राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक

भारतीय
अर्थशास्त्र की रूप-रेखा

(ग्यारहवीं कक्षा के लिए)

लेखक

एस. सी. तेला

एम. ए., एल-एल. बी., आर. ई. एस.,

प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, श्री गंगानगर

तथा

ए. के. जैन

एम. ए, बी. कॉम., आर. ई. एस.,

अर्थशास्त्र विभाग, सनातन धर्म राजकीय महाविद्यालय ब्यावर

"भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा" पुस्तक विशेषकर राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के नव-निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार ग्यारहवीं कक्षा के लिए लिखी गई है। अल्प समय में ही पुस्तक के द्वितीय संस्करण का प्रकाशित हो जाना इसकी उपादेयता का प्रतीक है।

विषय को रुचिकर बनाने के लिए सरल भाषा और आकर्षक शैली का सहारा लेकर भारतीय अर्थव्यवस्था की मूल बातों को प्रस्तुत किया गया है। विशिष्ट शब्द हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में दिए गए हैं। यथा स्थान तालिकाएँ, चित्र व मानचित्र भी दिए गए हैं। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में किसी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री का उद्धरण तथा अन्त में अध्याय का सार और चुने हुए महत्वपूर्ण परीक्षा-प्रश्न दिए गये हैं जिससे विद्यार्थियों को विषय दोहराने में सुविधा हो।

इस पुस्तक में भारत सरकार द्वारा मान्य शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

हम उन सभी लेखकों, विचारकों और विद्वानों के आभारी हैं जिनके विचारों व पाठ्य-सामग्री का समावेश इस पुस्तक में किया गया है। आशा है पाठकगण समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हमें अनुगृहीत करें।

1 जौलाई 1970

एस. सी. तेला
ए. के. जैन

विषय-सूची

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय अर्थ व्यवस्था

जिस समय आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की जन्मभूमि पश्चिम यूरोप में असभ्य जातियाँ निवास करती थीं, उन दिनों भारत अपने शासकों के धन वैभव तथा अपने शिल्पकारों के कौशल के लिए विख्यात था। इसके बहुत समय पश्चात् भी, जबकि पश्चिम से साहसी व्यापारी भारत में पहले पहल आये थे, इस देश का औद्योगिक विकास उन्नत यूरोपीय राष्ट्रों से किसी प्रकार घटिया न था।

औद्योगिक आयोग, 1918

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय अर्थ व्यवस्था अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ के उद्योग धन्धे, कलाशिल्प व सभ्यता संस्कृति अत्यन्त प्राचीन समय से ही उन्नत थे। जब यूरोप के वे देश जो आज विश्व के सबसे अधिक विकसित देश कहे जाते हैं अत्यन्त पिछड़ी हुई अवस्था में थे तब भारत आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था। भारतीय अर्थ व्यवस्था के गौरवशाली अतीत के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक अंक शास्त्रीय इतिहास तो उपलब्ध नहीं है किन्तु समय समय पर यहाँ आये विदेशी यात्रियों के संस्मरणों, लेखों आदि से भारत की उन्नत अर्थ व्यवस्था की जानकारी मिलती है।

भारतीय कारीगरों की उत्कृष्ट कला के प्रतीक अत्यन्त कलात्मक वस्त्रों का निर्माण, हीरे जवाहरात का काम, आदि विश्व भर में सुप्रसिद्ध थे। भारत ढाका की मलमल विदेशों को निर्यात करता था। ईसा मसीह के 2000 वर्षों से पूर्व मिस्र की ममियाँ (Mummies) भारतीय मलमल में लिपटी हुई पायी गई। ऐसा विवरण मिलता है कि 17 वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय मलमल कम कीमत पर ही इंग्लैण्ड भेजी जाती थी। इससे वहाँ के ऊनी व रेशम के वस्त्र निर्माताओं को खतरा

उत्पन्न होने लगा। इसीलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट में अनेक क
हुए जिनके अनुसार भारतीय वस्त्रों के आयात का निषे
गया। इन सब निषेधों एवं कानूनों के बावजूद भी भारतवर्ष
से प्रतिवर्ष भारी मात्रा में वस्त्र इग्लैण्ड भेजा करता था।

इसके अतिरिक्त भारत के अन्य प्राचीन गौरवशाली उद्यो
व इस्पात, पोत निर्माण, बर्तनों पर कलात्मक काम, आदि
हैं। भारत की कृषि एवं सिंचाई के साधनों की उन्नत अव
अनेक उल्लेख मिलते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं
भारत अत्यन्त गौरवशाली था।

किन्तु धीरे धीरे गौरव की यह परम्परा समाप्त हो
भारतीय अर्थ व्यवस्था अर्द्ध विकसित अर्थ व्यवस्था के स
जाती है। इस आर्थिक विघटन के लिए अनेक कारण बताये
कुछ पाश्चात्य विद्वान भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक संस्था
स्थिति के लिए उत्तरदायी मानते हैं। श्रीमती वेरा एन्स्टे
जनसंख्या को तथा श्री बेडनपावेल भारतीयों की निर्धन
आर्थिक विघटन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। श्री नावेल्स (
के अनुसार इसका मुख्य कारण भारत का धार्मिक व सामा
है। किन्तु हमारे विचार में इस आर्थिक विघटन का मूल का
शासन की घातक नीति ही थीं।

ब्रिटिश राज्य का भारतीय उद्योगों एवं अर्थ व्यवस्
प्रभाव हुआ, इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले ह
अर्थ व्यवस्था की उन विशेषताओं का अध्ययन करें जो भारत
के आगमन से पूर्व विद्यमान थीं।

ब्रिटिश पूर्व अवधि में भारतीय अर्थ व्यवस्था की विशेषताएँ–

1. *ग्राम व्यवस्था*–अंग्रेजों के पूर्व भारत की अर्थ व
मूल आधार स्वावलम्बी ग्रामीण इकाइयाँ थीं। 19 वीं

ब्रिटिश पूर्व भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएं
1. स्वावलम्बी ग्राम इकाइयाँ
2. कृषि
3. उद्योग व हस्तशिल्प
4. नगर
5. व्यापार एवं यातायात व संदेश वाहन
6. सामाजिक व्यवस्था

आरम्भ तक प्रत्येक ग्राम सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर था। ग्रामवासियों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है— (अ) कृषक, (ब) कारीगर या दस्तकार एवं श्रमिक तथा (स) ग्राम अधिकारी Village Officer ग्राम में शान्ति व्यवस्था के लिए ग्राम मुखिया या पटेल उत्तरदायी होता था। पटवारी एवं चौकीदार क्रमशः ग्राम के लगान वसूली तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्य करते थे। गाँव की पंचायत न्याय व्यवस्था के लिए कार्य करती थी। दस्तकारों को गाँव की उपज में से प्रत्येक फसल पर अनाज मिलता था और बदले में वे गाँव वालों का काम करते थे।

भारतीय ग्राम

प्राचीन ग्राम व्यवस्था की मुख्य विशेषता आत्म निर्भरता (Self sufficient) थी। यातायात एवं संदेश वाहन के साधनों के अभाव में श्रम एवं पूंजी की गतिशीलता (Mobility) का अभाव था। चूंकि ग्राम की आवश्यकताओं को ग्राम में ही पूरा कर लिया जाता था इसलिए वस्तु विनिमय प्रथा

(Barter System) का प्रचलन था और प्राय: मुद्रा का प्रयोग न होता था। परम्पराओं एवं रीति रिवाजों का प्रभाव, लगान, मजदू एवं कीमतों के निर्धारण पर पर्याप्त रूप से पड़ता था। व्यवसायों चुनने की स्वतन्त्रता नहीं थी और पैतृकता के आधार पर ही क किए जाते थे।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि ग्रामों में जीवन व्यवस्था अत्य सरल थी और प्रतियोगिता का अभाव था। परम्पराओं का सामाजि एवं आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता था।

(2) *कृषि (Agriculture)*—*अन्य देशों के अतीत की ही भां* भारत में भी कृषि व्यवसाय की प्रधानता थी। कृषि वस्तुओं का बाज़

भारत में कृषि

अत्यन्त सीमित था। यातायात के साधनों के अभाव में कृषि व व्यापारीकरण नहीं हो पाया था। कृषकों की स्थिति देश के विभि भागों में भिन्न भिन्न थी कृषि की पद्धति बहुत पिछड़ी हुई थी।

3. उद्योग व हस्तशिल्प (Industries and Handicrafts)— यद्यपि कृषि भारतीय जनता का मुख्य व्यवसाय था फिर भी यहाँ के उद्योग विश्व विख्यात थे। सूती वस्त्र उत्पादन में ढाके की मलमल तथा बनारस की साड़ियाँ, कश्मीर व पंजाब के ऊनी वस्त्र, लोहे इस्पात, पत्थर की मूर्तियाँ, बर्तन बनाने का व्यवसाय, लकड़ी व धातु पर कारी- गरी आदि भारत के कतिपय उल्लेखनीय उद्योग रहे हैं। गाँवों के उद्योगों की तुलना मे कस्बों एवं शहरों के उद्योग अधिक समृद्ध अवस्था

में थे। प्रत्येक नगर किसी न किसी व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार भारत का औद्योगिक अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। कहा भी जाता है—"The Glory that was India"

4. नगर (Town)—प्राचीन काल में भारतीय आर्थिक जीवन में नगरों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यद्यपि आंकड़ों के आधार पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि जनसंख्या का कितना भाग नगरों मे रहता था किन्तु अनुमान लगाया जाता है कि नगरों में जनसंख्या का 10 प्रतिशत से अधिक भाग नहीं रहता था। नगरों का जीवन ग्रामीण जीवन से भिन्न था। यहाँ के निवासी खाद्यान्नों के लिए पड़ोसी गाँवों पर निर्भर रहते थे। नगरों में उद्योग सुव्यवस्थित रूप से संगठित थे। बाजार विस्तृत थे और मुद्रा का पर्याप्त उपयोग होता था। साख पत्रों के रूप मे हुण्डियों का प्रयोग किया जाता था। प्रो. गाडगिल (Prof. Gadgil) के अनुसार "ये (नगर) भारत के सामान्य जीवन से भिन्नता रखने वाले थे।" नगरों की उत्पत्ति एवं समृद्धि मुख्य रूप से तीन कारणों पर आधारित मानी जाती थी—

(अ) ये नगर धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे, जैसे—बनारस, गया, पुरी, नासिक आदि।

(ब) नगरों के विकास का दूसरा कारण प्रान्त की राजधानी या न्यायालय के केन्द्र के रूप में स्थापित होना था जैसे—दिल्ली लखनऊ, लाहौर, पूना, तंजौर, मुर्शिदाबाद, ढाका आदि।

(स) तीसरे, वे नगर जिनका विकास औद्योगिक या व्यापारिक नगरो के रूपों में हुआ, जैसे—मिर्जापुर, बंगलौर, आदि।

इस प्रकार एक या दूसरे कारण से नगरों का विकास हुआ।

5. व्यापार (Trade) यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों की स्थिति—अंग्रेजों के पूर्व भारत में ग्रामों की स्वावलम्बी इकाई के रूप में उपस्थिति एवं यातायात व संदेश वाहन के साधनों में व्यापार की

स्थिति अच्छी नहीं थी। आन्तरिक व्यापार की कमी के कारण देश के भिन्न भिन्न भागों में कीमतों में बहुत अन्तर था।

यातायात व संदेश वाहन के साधन अत्यन्त पिछड़ी दशा में थे। यद्यपि समय समय पर शासकों ने सड़कों के निर्माण में रुचि दिखाई किन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिए ये अपर्याप्त साधन थे।

6. सामाजिक व्यवस्था—अंग्रेजों के पूर्व भारत की सामाजिक व्यवस्था में परम्परा एवं विश्वास का वातावरण व्याप्त था। धर्म एवं रीति रिवाजों से ग्रसित समाज में परिवर्तनों की गुंजाइश बहुत कम थी। इनका प्रभाव कृषि एवं उद्योगों की पद्धति पर पड़ता था और परम्परागत पद्धतियाँ ही प्रचलित रहती थीं।

संयुक्त परिवार प्रथा एवं जाति प्रथा का प्रचलन था। इनका इतिहास जो भी रहा हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि इस व्यवस्था ने काफी हद तक आर्थिक व सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। जन्म ही समाज में उसका स्थान, ऊँचा या नीचा, निर्धारित करता था। स्त्रियों की दशा भी अधिक अच्छी नहीं थी। कुल मिला-कर अंग्रेजों के पूर्व भारत का सामाजिक जीवन परम्पराओं से ग्रस्त था एवं आर्थिक विकास के लिए उचित वातावरण तैयार करने में असमर्थ था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में आगमन एवं ब्रिटिश शासन की स्थापना

पुर्तगालियों द्वारा पूर्वी देशों के किये जाने वाले व्यापार की वस्तुओं को देखकर अंग्रेज भी आकर्षित हुए। सन् 1600 ई० में ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की स्वीकृति दी। इस कम्पनी का मूलधन 70,000 पौण्ड था। वैसे यूरोप में भारत के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से अनेक ईस्ट इण्डिया कम्पनियों की स्थापना हुई। पर इंग्लैंड, फ्रांस तथा

हालैण्ड की ईस्ट इण्डियां कम्पनियों को छोड़कर शेष सभी असफल हो गई। यहाँ हमारा तात्पर्य इंगलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ही है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन् 1606 में मुगल-सम्राट जहांगीर से भारत में एक कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्राप्त की। इस कारखाने की स्थापना सन् 1612 में सूरत में हुई। सन् 1639 में कम्पनी ने मद्रास में फोर्ट सेंट जार्ज का निर्माण किया। बम्बई का द्वीप किंग चार्ल्स द्वितीय से खरीदकर सन् 1687 में कम्पनी ने अपने कारखाने वहाँ लगाए। कम्पनी ने सन् 1700 में बंगाल में अपना मुख्य स्थान कलकत्ता में स्थापित किया। फ्रांसिसी पांडीचेरी एवं कलकत्ता के उत्तर में चन्द्र नगर पर अपना अधिकार किये हुए थे।

सन् 1744 से 1763 तक फ्रांस व इंग्लैंड के मध्य यूरोप, एशिया एवं अमेरिका का युद्ध होता रहा। भारत वर्ष में भी अंग्रेज एवं फ्रांसिसी कम्पनियों के बीच कर्नाटक युद्ध चलते रहे। कर्नाटक युद्ध के अंतिम दौर में फ्रांसिसियों की सत्ता पूर्ण रूप से नष्ट हो गई। इस प्रकार सन् 1763 के पश्चात् भारत में अंग्रेजों के कोई भी यूरोपियन प्रतिद्वन्दी नहीं रहे।

इधर बंगाल में महत्वपूर्ण घटनाएं हुई। सन् 1756 में नवाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों से कलकत्ता ले लिया। यूरोप से लौटने पर लार्ड क्लाइव (Lord Clive) ने सन् 1757 में प्रकट रूप में नवाब से संधि की और गुप्त रूप से उनके (नवाब के) विरुद्ध षड्यंत्र में रत हो गये। नवाब सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में पराजित हुए और सन् 1760 में यूरोप जाने से पूर्व लार्ड क्लाइव ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत के विशाल क्षेत्रीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इसके पश्चात् भी कम्पनी व नवाबों के बीच संघर्ष चलता रहा। लार्ड क्लाइव भारत में फिर तीसरी और अंतिम बार सन् 1765 में आये और उन्होंने एक नवीन एवं अविस्मरणीय नीति का प्रतिपादन किया।

सन् 1765 में भारत के बादशाह की स्थिति बड़ी डावाडोल हो रही थी फिर भी उन्हें देश का शासक माना जाता था। क्लाइव

जिन्होंने सन् 1757 मे बंगाल को शक्ति से प्राप्त किया था, 1765 में भारत के सम्राट से बंगाल प्रान्त के दीवानी अधिकार सम्बन्धी अनुज्ञापत्र प्राप्त कर लिया। इस प्रकार ईस्ट इन्डिया कम्पनी को बंगाल पर शासन करने का कानूनी अधिकार प्राप्त हो गया।

सन् 1769 में ब्रिटिश अधिकारियों ने मद्रास में अधिकार स्थापित किया। सन् 1773 में ब्रिटिश संसद ने भारत में स्थिति सुधारने की दृष्टि से एक रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित किया। इस एक्ट के अनुसार कम्पनी के सभी अधिकृत क्षेत्रों की देख रेख का प्रशासनिक अधिकार मिल गया और उनकी समुचित व्यवस्था हेतु गवर्नर जनरल की नियुक्ति की गई। लार्ड वारन हेस्टिंग्ज जो उस समय बंगाल के गवर्नर थे, सन् 1774 में प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किये गये। लार्ड हेस्टिंग्ज सुधार चाहते हुए भी अनेक कठिनाइयों के कारण ऐसा नहीं कर सके। कम्पनी के प्रशासन को इंग्लैण्ड की राज सत्ता के अन्तर्गत लाने के लिए पिट का इण्डिया एक्ट सन् 1784 में पास हुआ। सन् 1785 में वारेन हेस्टिंग्ज इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। उनके जाने के समय तक कम्पनी बंगाल, मद्रास, बनारस आदि क्षेत्रों पर सत्ता स्थापित कर चुकी थी।

सन् 1784 के पिट्स एक्ट के अन्तर्गत कम्पनी के सभी नागरिक, सैनिक एवं राजस्व कार्यों की देख रेख ब्रिटिश शासन द्वारा नियुक्त कमिश्नरों के जरिये होने लगी। सन् 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में स्थायी जमींदारी बन्दोबस्त का प्रबन्ध किया। 1793 में कम्पनी का अनुज्ञा-पत्र फिर से जारी किया गया। किन्तु इसमें व्यापार पर से कम्पनी के एकाधिकार की समाप्ति हो गई। 1805 तक बंगाल के अतिरिक्त बनारस आदि क्षेत्रों पर भी यह कानून लागू कर दिये गये। मैसूर एवं मराठा राज्यों को हरा कर ये क्षेत्र भी कम्पनी ने अपने अधिकार में कर लिए।

कम्पनी के आर्थिक व प्रशासनिक अधिकारों पर धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार ने नियंत्रण स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। सन् 1857 में

गदर (स्वतन्त्रता संग्राम) (Mutiny or war of Independence) के कारण कम्पनी का अन्त हुआ । कम्पनी के विगत कार्यों से भारतीय राजा अपने भविष्य के प्रति सशंकित हो गए । उनके विद्रोह को समाप्त करते समय ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी को समाप्त करना भी उचित समझा।

गदर के तुरन्त बाद इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान मंत्री लार्ड पामर्सटन ने कम्पनी के अध्यक्ष को ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय की सूचना दी कि भारत सरकार के कार्यों की देखरेख सीधे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत होगी। अगस्त 1858 में भारत में उत्तम शासन हेतु अधिनियम पारित किया गया । इस प्रकार सन् 1858 में कम्पनी के स्थान पर सीधा शासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में चला गया ।

सन् 1600 में ईस्ट इन्डिया कम्पनी भारत में विशुद्ध व्यापारिक दृष्टिकोण लेकर आई किन्तु धीरे-धीरे देश की प्रशासनिक व्यवस्था को भी अपने हाथों में लेती गई। कम्पनी की इन गतिविधियों पर ब्रिटिश सरकार धीरे-धीरे नियंत्रण स्थापित करती गई । सन् 1857 के गदर के बाद तो ब्रिटिश सरकार ने अधिनियम पारित करके कम्पनी का कार्य समाप्त कर शासन अपने देखरेख में ले लिया । इस अधिनियम के अन्तर्गत कम्पनी के अधिकार एवं कर्तव्य भारत सचिव को सौंप दिये गये । इस अधिनियम मे 75 धाराएं थी जिनमें से अधिकांश ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक बनी रहीं ।

इस अधिनियम के अन्तर्गत 15 सदस्यों की एक परिषद् की सहायता से भारत सचिव द्वारा ईस्ट इन्डिया के प्रबन्धित सभी क्षेत्रों का शासन चलाने की व्यवस्था थी । परिषद् के सदस्यों एवं भारत सचिव से संबंधित सभी व्यय भारत के राजस्व में से चुकाए जाते थे । भारत के गवर्नर जनरल तथा मद्रास और बम्बई के गवर्नर की नियुक्ति का अधिकार इंग्लैंड की रानी को था । इस अधिनियम में भारत के हित विरोधी अनेक बातें थी जिनकी जानकारी सामान्य जनता को नहीं थी ।

भारत में ब्रिटिश शासन (*British Rule in India*)—भारत में लगभग 200 वर्षों तक अंग्रेजों का शासन रहा । भारत जैसे विशाल देश पर अंग्रेजों का अधिकार ब्रिटिश आर्थिक अभ्युदय के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ । ब्रिटेन के अधिकार में भा— सबसे बड़ा उपनिवेश था जिसका क्षेत्रफल इंग्लैंड से बीस गुना य यूरोप के सभी बड़े देश भारत की ओर आँख लगाए रहे और ब्रि द्वारा भारत विजय ही यूरोप मे पूँजीवाद के विकास में महत्वपूर्ण व सिद्ध हुई । भारत उपनिवेश ने ही ब्रिटेन को विश्व की सर्वोच्च स बनने में मदद की । स्वयं लार्ड कर्जन ने 1898 में यह स्वीकार कि यदि हम भारत को छोड़ दें तो हमारे शासन का सूर्य अस्त हो जाएग इस प्रकार भारत पर ब्रिटिश शासन ग्रेट ब्रिटेन के हितों के प्रव: एवं प्रवर्द्धन में सहायक हुआ ।

भारतीय अर्थ व्यवस्था पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव—दो श ब्दियों तक तकनीकी एवं औद्योगिक दृष्टि से उन्नत ग्रेट ब्रिटेन शासन भारत वर्ष पर कायम रहा उसका आर्थिक प्रभाव क्या रहा इसका एक मात्र उत्तर है— भारत की आर्थिक स्थिति में गिरा धाई । अंग्रेज विद्वान वेरा एन्सटे ने यह स्पष्ट रूप से कहा है जन-जीवन की समृद्धि पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव निस्सन्देह अत्य निराशा जनक रहा । इसी प्रकार से अमेरिकन विद्वान प्रोफेसर ए एच. बुचनान ने कहा भारतीय औद्योगीकरण पर ब्रिटिश शासन प्रभाव अत्यन्त निराशाजनक रहा ।

इस प्रकार यह एक सर्व विदित तथ्य है कि भारतीय अर्थ व्यवस पर ब्रिटिश शासन का अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । भारत परम्परागत गौरव ब्रिटिश शासन काल में कम होता गया । यहाँ ह विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों पर पड़े प्रभावों का ब्योरेवार अध्ययन करेंगे-

(1) सम्पन्नता के मध्य गरीबी का प्रादुर्भाव — भारत ए धनवान देश है किन्तु अब उसमें निर्धन लोग निवास कर

है। यह विरोधाभास ब्रिटिश शासन की ही देन है। कम्पनी के आगमन से पहले भारत के औद्योगिक विकास का स्तर बहुत ऊँचा था। यहाँ प्राकृतिक साधनों की भी कमी नहीं थी किन्तु ब्रिटिश शासन के कारण भारतीय जनता का जीवन स्तर नीचा हो गया। 17 वीं सदी में जहाँ भारतीय गाँवों में चावल, आटा, मक्खन, दूध, फल, चीनी, मिठाइयाँ आदि प्रचुर मात्रा में प्रयोग किये जाते थे वहाँ ब्रिटिश शासन की अवधि मे द्वितीय महायुद्ध के समय भारत की 60 प्रतिशत जनसंख्या की आय डेढ़ आना प्रति व्यक्ति प्रतिदिन थी। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के सभी साधनों के विद्यमान होते हुए भी अंग्रेजों की स्वार्थपरता के कारण भारतवासी निर्धन हो गए।

ब्रिटिश शासन का प्रभाव
1. सम्पन्नता के मध्य गरीबी का प्रादुर्भाव
2. भारत से धन का प्रवाह
3. भारत पर ऋण
4. निर्मित पदार्थों के निर्यात में कमी
5. आयात में वृद्धि
6. भारतीय उद्योगों का विनाश
7. जमींदारी प्रथा का उदय
8. आर्थिक शोषण व अत्याचार
9. कृषि पर जनभार में वृद्धि
10. अन्य प्रभाव

2. भारत से धन का प्रवाह—ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में व्यापार की दृष्टि से आविर्भूत हुई। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण कुटिल अंग्रेजों ने देश के अनेक भागों का शासन टेवरनियर के यात्रा संस्मरणों पर आधारित प्रबन्ध भी अपने हाथों में ले लिया। शासन हथियाने के बाद कम्पनी नाम मात्र की कीमत पर वस्तुएँ खरीद कर भारत से बाहर भेजती थी। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतीय पदार्थों को बहुत कम कीमत देकर भारतीय किसानों और व्यापारियों को लूटा और उस धन को भारत के बाहर ले गए।

त पर ऋण

इण्डिया कम्पनी के भारत में स्थापित होने से पूर्व भारत पर कोई ऋण नहीं था किन्तु शासन व्यवस्था एवं कम्पनी के ारत पर ऋण होता गया और भारत को लगभग 7 करोड़ राशि केवल कम्पनी के कारण चुकानी पड़ी। इस प्रकार डया कम्पनी ने भारत का आर्थिक शोषण करने में कोई कसर ी थी।

मित पदार्थों के निर्यात में कमी—

1760 के पश्चात् इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को ऐसे बाजारों की रता थी जो वहाँ के बने हुए माल को खपा सके। अंग्रेजों ने ो इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त पाया। जहाँ भारतवर्ष निर्मित का भारी मात्रा में निर्यात करता था। वहाँ ब्रिटिश शासन में मित पदार्थों का आयातकर्ता देश बन गया। ब्रिटेन के नए उद्योग- ों ने भारत के शोषण की अधिक व्यवस्थित योजना बनाकर के निर्मित पदार्थों के निर्यात को बढ़ावा दिया। जहाँ भारत शमी व सूती वस्त्र, हाथीदाँत व लकड़ी की उत्कृष्ट वस्तुएं, आदि निर्यात करता था ब्रिटिश शासन काल में कच्चा माल, जैसे खालें , जूट, कपास आदि वस्तुओं को निर्यात करने वाला देश बन भारत से कच्चा माल मंगाकर अपने देश में औद्योगीकरण को देने की ब्रिटिश कुटिल नीति ने हमारे उद्योगों को गहरा आघात ा।

ायात में वृद्धि—

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड ने भारत को अपने बाजार के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से भारतीय उद्योगों निर्मित वस्तुओं पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए। इधर अंग्रेजों ने अपने ी भारत में बेचने के लिए अनेक कदम उठाए। इस प्रकार जो एक प्रमुखत: निर्यातकर्ता देश था ब्रिटिश नीति के कारण एक क देश बन गया।

(6) उद्योगों का विनाश—

औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हो गया। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने भारत के आर्थिक शोषण की एक सुव्यवस्थित योजना बना कर भारत को अपना बाजार बना दिया। 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय उद्योगों के साथ भेदभाव का व्यवहार किया गया। इस नीति के अनुसार इंग्लैण्ड के पदार्थ तो भारत में बिना किसी रोक टोक के आ सकते थे किन्तु भारतीय वस्तुएं इंग्लैण्ड नहीं जा सकती थीं। इस प्रकार भारत एवं अन्य देशों के बीच भी नो-वहन कानून के अन्तर्गत व्यापार का निषेध कर दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश टैरिफ नीति भारतीय उद्योगों के लिए घातक एवं ब्रिटिश उद्योगों के लिए हितकारी सिद्ध हुई। उद्योगों के पतन के कारण ढाका, मुर्शिदाबाद आदि औद्योगिक नगरों का भी पतन हुआ और कारीगरों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई। ब्रिटिश नीति के कारण भारतीय उद्योगों के पतन का अध्ययन इसी अध्याय में आगे किया जाएगा।

(7) जमींदारी प्रथा का उदय—

ईस्ट इंडिया कपनी ने लगान वसूली की एक नवीन पद्धति को जन्म दिया। सन् 1793 में लार्ड कार्नवालेस ने बगाल में प्रयोग के तौर पर स्थायी भूमि बन्दोबस्त की प्रथा लागू की। कार्नवालेस ने इस व्यवस्था के अन्तर्गत जमींदारों को कानूनी तौर पर भूमि का स्वामी मान लिया। किसानों पर यह जमींदार वर्ग शासन करने लगा और अनुपस्थित भूस्वामी (Absentee landlord) के रूप में प्रकट हुआ। जैसा हम आगे चलकर पढ़ेंगे। यह वर्ग (जमीदार) किसानों का शोषण करने लगा और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करने वाला बना। अंग्रेजों की यह पद्धति भी भारत के लिए लगभग पौने दो सौ वर्षों तक सिर दर्द बनी रही।

8. आर्थिक शोषण (Economic expliotaion) व अत्याचार—
जब सन् 1765 में ईस्ट इंडिया कपनी को राजस्व प्रशासन का अधिकार

शोषण का नवीन द्वार खुल गया । इस पृथ्वी पर ईस्ट इंडिया
के शासन (सन् 1765 से 1784 तक) के समान कोई भी भ्रष्ट
अब तक नहीं देखी गई । ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के
निरन्तर लगान वृद्धि, सिंचाई के साधनों तथा सार्वजनिक निर्माण
की उपेक्षा, आदि कारणों से जनता परेशान हो गई । सन् 1770
ल के भयंकर अकाल में लाखों मौत के शिकार हुए । ऐसे समय
कंपनी ने लगान वसूली में हृदयहीनता दिखाई । बीस वर्ष के
के शासन में अन्न, धन और वैभव का भण्डार भारत में प्राय:
कर रह गया । ब्रिटिश शासन काल की सभी नीतियाँ भारत
क शोषण की रहीं । अंग्रेजों ने भारतीय हितों की सदैव उपेक्षा
ब्रिटिश सरकार ने अनेक अवसरों पर भारतीय जनता का दमन
और अत्याचार किये । हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास इन
ों से भरा पड़ा है ।

. कृषि पर जन भार में वृद्धि—ब्रिटिश सरकार की नीति के
भारतीय उद्योग धन्धों का ह्रास हुआ । परिणामस्वरूप इनमें
कारीगर व श्रमिक बेकार हो गये । करोड़ों कलाकार, दस्तकार,
, कुम्हार, लोहार आदि शहरों एवं गाँवों में रोजगार के साधनों
ाव में बड़ी दयनीय स्थिति में थे । इन सबका भार कृषि पर पड़ा
पहले से ही अधिक जन भार वाली कृषि पर इनका और बोझ आ
। भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था पर एक और दूरगामी प्रभाव
। भारत में जो पहले कृषि व उद्योग धन्धों वाली अर्थ व्यवस्था थी
ब्रिटिश औद्योगिक पूंजीवाद का एक कृषि उपनिवेश मात्र बनकर
यी ।

10. अन्य प्रभाव—ब्रिटिश शासन के आर्थिक परिणाम भारत के
प्रतिकूल ही रहे । यद्यपि महायुद्धों की अवधि में भारत में उद्योग
ों की स्थापना के कुछ सरकारी प्रयत्न हुये किन्तु भारत की
न्त्रता प्राप्ति तक कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकला । अंग्रेजों के
सन काल में भारत के नील, चाय, कहवा व रबर के बागानों पर

विदेशियों का अधिकार स्थापित हो गया। इन उद्योगों मे भी भारतीय श्रमिकों का बहुत शोषण किया गया। ब्रिटिश शासन का एक सुखद परिणाम कार्ल मार्क्स के अनुसार सामाजिक क्रांति (Social Revolution) के रूप में हुआ। अंग्रेजों के शासन काल मे देश का एकीकरण होकर एक सूत्र में शासन व्यवस्था स्थापित हो गई। ब्रिटिश शासन के अन्तिम 50 वर्षो मे रेलें, सड़कें और सिंचाई के साधनों का विस्तार हुआ जिससे भारत मे आर्थिक संक्रांति (Economic transition) का सूत्रपात हुआ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों का शासन भारतीय अर्थ-व्यवस्था को प्रायः नष्ट करने में सफल हुआ। ब्रिटिश सरकार ने भारत के आर्थिक विकास के लिए कोई रचनात्मक कदम नहीं उठाया। यही कारण है भारतीय अर्थ व्यवस्था अब भी अर्द्ध विकसित अवस्था में है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना आर्थिक विकास संभव नहीं है।

भारत में आर्थिक संक्रांति (Economic transition in India)—

भारत मे ब्रिटिश शासन काल में 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दी में जो आर्थिक परिवर्तन हुए उन्हें हम आर्थिक सक्रांति के नाम से पुकारते हैं। इस अवधि में गांवों एवं नगरों के आर्थिक जीवन मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति, शासन की नीतियों एवं अन्य बातों का आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

आर्थिक संक्रान्ति की पृष्ठभूमि तथा कारण (Back ground & causes)

इसी अध्याय के प्रारम्भ मे हम अर्थ व्यवस्था की उन विशेषताओं का अध्ययन कर चुके हैं जो आर्थिक संक्रान्ति से पूर्व (ब्रिटिश शासन से पूर्व) भारत में विद्यमान थी। इन विशेषताओं से सक्रान्ति की पूर्व पीठिका की जानकारी मिल जाती है।

आर्थिक संक्रान्ति के मुख्य कारण निम्नांकित थे—

(1) ईस्ट इंडिया कंपनी का आगमन तथा ब्रिटिश शासन की स्थापना—

औरंगजेब के समय से मुगल शासन का पतन प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजों ने भारत में अपने हितों की रक्षा की। परिणामस्वरूप भारतीय आर्थिक व्यवस्था में गिरावट आती गई। इस प्रकार ब्रिटिश शासन का प्रभाव भारत की आर्थिक संक्रान्ति पर पर्याप्त मात्रा में हुआ।

आर्थिक संक्रान्ति के मुख्य कारण—

1. ईस्ट इंडिया कंपनी का आगमन व ब्रिटिश शासन की स्थापना
2. इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति
3. उद्योगों व व्यापार में वृद्धि
4. परिवहन के साधनों का विकास
5. पश्चिमी विचारधारा का आगमन

(2) इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)–अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में महत्वपूर्ण औद्योगिक परिवर्तन हुए। ब्रिटिश उद्योगों में मशीनों एवं आविष्कारों का प्रयोग किया गया। इस औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में बनने वाले पदार्थों की बिक्री के लिए विस्तृत बाजारों की आवश्यकता हुई। भारत भी औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों से अछूता नहीं रह सका और आर्थिक संक्रान्ति हुई।

औद्योगिक क्रान्ति

3. उद्योगों व व्यापार की दिशाओं में परिवर्तन—भारत में चाय, रबर, नील व कहवा बागान, जूट आदि नये उद्योगों का विकास तथा इग्लैंड से बढ़ते हुए व्यापारिक सम्बन्धों ने भारतीय अर्थ व्यवस्था का नई दिशा दी। इनका प्रभाव आर्थिक संक्रांति पर हुआ।

4 परिवहन का विकास—ब्रिटिश शासकों ने राजनीतिक दृष्टि से यातायात के साधनों का विकास किया। ब्रिटिश जहाजी बेड़ो ने भारतीय समुद्री व्यापार में महत्वपूर्ण योग दिया। इन साधनों ने भारतीय अर्थ व्यवस्था मे परिवर्तनो को बढ़ावा दिया।

5. पाश्चात्य (Western) विचारधारा—भारत मे आर्थिक क्रान्ति लाने का मुख्य श्रेय ब्रिटिश शासकों को है जिन्होने पश्चिमी देशों की सभ्यता, रहन-सहन एव सामाजिक व्यवस्था से भारत का परिचय करवाया। आज भी भारतीय जीवन पर पाश्चात्य विचारधारा का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है।

सक्षेप मे, ब्रिटिश शासन व्यवस्था और उनकी आर्थिक नीतियों ने ही भारत में आर्थिक सक्रान्ति का सूत्रपात किया।

आर्थिक संक्रान्ति के परिणाम

आर्थिक संक्रान्ति से भारत के आर्थिक जीवन पर अनेक प्रभाव पड़े। यहाँ हम उन प्रभावों (Effects) का अध्ययन करेंगे।

आर्थिक संक्रान्ति के प्रभाव
1. गाँवो व कृषि पर
2. उद्योगों पर
3. दुर्भिक्षों पर
4. बैंकिंग पर
5. शहरीकरण
6. नये वर्ग सम्बन्ध
7. अन्य

1. आर्थिक संक्रान्ति द्वारा गाँवों तथा कृषि के क्षेत्रों में परिवर्तन—प्राचीन भारतीय सगठन की मूल इकाई ग्राम व्यवस्था में परिवर्तन होने लगी। गाँवों के पृथक्कीकरण एवं स्वावलम्बन की स्थिति समाप्त होने लगी। ग्रामीण जीवन में नवीन वस्तुओं की आवश्यकताओं का समावेश होने लगा।

गाँवों में बाहर से वस्तुएँ आने लगी और गाँव दूसरे स्थानों को पदार्थ भेजने लगे।

आर्थिक संक्रान्ति के परिणाम स्वरूप कृषि की उपज के लिये और विस्तृत बाजार खुल गये। बाजारों के विस्तार के साथ वस्तुओं के मूल्य में समानता आने लगी। गाँवों में धीरे-धीरे विनिमय के स्थान पर मुद्रा का प्रचलन होता गया। गाँवों में संयुक्त परिवार प्रथा के स्थान पर व्यक्तिवादी भावना का विस्तार हु

कृषि के क्षेत्र में आर्थिक संक्रान्ति के परिणाम स्वरूप महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। परम्परागत कृषि के स्थान पर कृषि का व्यापारी (Commercialisation) हुआ। परिवहन व संचार के साधनों विकास, स्वेज नहर के खुल जाने से तथा विदेशों में हमारे कृषि प की माँग ने कृषि को व्यापारिक ढंग से प्रतिष्ठित करने में सहायता

. हमारे उद्योग धन्धों के नष्ट हो जाने के कारण कृषि पर जन का भार बढ़ गया। कृषि पदार्थों के मूल्य कम होने और उद्योगों समाप्ति के कारण उत्पन्न बेरोजगारी ने कृषकों पर ऋण भार में कर दी।

इस प्रकार आर्थिक संक्रान्ति के गावों में स्वावलम्बी इकाई समाप्त कर कृषि पर जन-भार में वृद्धि कर दी।

2. आर्थिक संक्रान्ति द्वारा उद्योगों पर प्रभाव—इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति, भारत में ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीति भारत के विदेशी व्यापार एवं नौ-वहन पर घातक प्रतिबन्ध लगाने भारतीय उद्योग धन्धों का पतन हुआ। भारतीय औद्योगिक को इंग्लैण्ड में बने पदार्थों की भारी स्पर्धा का सामना करना प विदेशी सरकार की नीति के परिणाम स्वरूप हमारे देश में वि पूँजी (*Foreign Capital*) तथा साहस का आगमन हुआ चाय, नील, कहवा व रबर के बागानों आदि व्यवसायों में इन, अंग्रेज व अन्य देशों के उद्योगपतियों ने अपना अधिकार समाप्त

लिया। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के स्वरूप भारी मशीनों का आविष्कार हुआ। भारत में भी भारी मशीनों एवं नवीन तकनीक के आधार पर कुछ नये उद्योगों की स्थापना हुई। समुद्र के पास स्थित होने से मद्रास, कलकत्ता एवं बम्बई बड़े व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र बन गये। बड़े नगरों में औद्योगीकरण के कारण अनेक समस्यायें भी उत्पन्न हो गईं।

इस प्रकार औद्योगिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और हमारे कारीगरों को मजबूर होकर कृषि पर आश्रित होना पड़ा।

3. आर्थिक संक्रान्ति का दुर्भिक्षों (Famines) पर प्रभाव—गाँवों के पृथक्कीकरण के कारण जहाँ पहले अकालों को दूर करने के प्रयत्न नहीं किये जा सकते थे वहाँ यातायात के साधनों के विकास एवं कृषि के व्यापारीकरण के पश्चात् अकालों की भयानकता को दूर कर पाना सम्भव हो गया। आर्थिक संक्रान्ति के बाद लोगों के पास पहले से अधिक क्रय शक्ति (Perchasing power) थी और विस्तृत बाजार थे जहाँ से यातायात के शीघ्र साधनों द्वारा ग्रस्त क्षेत्रों को खाद्यान्न पहुँचाये जा सकते थे।

4. बैंकिंग पर प्रभाव—विदेशी व्यापार एवं पूंजी के कारण देश में बैंकों व अन्य साख संस्थाओं का विकास हुआ। बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास होने के कारण अधिकाधिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास हुआ।

5 जब शहरों में बड़े उद्योगों की स्थापना हो गई तो गाँवों से ये बेकार कारीगर शहरों की ओर जाने लगे। इस प्रकार शहरों और गाँवों के रहने वालों के मध्य एक नये प्रकार के सम्बन्धों का उदय हुआ।

6. नये वर्ग सम्बन्धों का जन्म—आर्थिक संक्रान्ति के परिणाम-स्वरूप परम्परागत सम्बन्धों के स्थान पर नये वर्गों का उदय हुआ। कृषक, उद्योगपति, श्रमिक व प्रशासकों के नये वर्गों का उदय हुआ और इनके सम्बन्धों में नया मोड़ आया।

7. अन्य प्रभाव—इन सबके अलावा आर्थिक संक्रान्ति ने हमारे सदियों से चली आ रही अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया। प्रतिष्ठा और रीति-रिवाज के स्थान पर साझेदारी एवं प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्तों के आधार पर समाज व अर्थ व्यवस्था की रचना प्रारम्भ हुई।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि आर्थिक संक्रान्ति से कुछ अच्छे एवं अधिकांश बुरे प्रभाव हमारी अर्थ व्यवस्था पर पड़े। भारत जहाँ कृषि एवं उद्योगों वाला देश था वह ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आर्थिक संक्रान्ति के कारण केवल कृषि प्रधान देश बन कर रह गया।

सारांश

प्राचीन भारत अत्यन्त गौरवशाली था, किन्तु धीरे-धीरे उसकी यह गौरव की परम्परा समाप्त हो गई। इस विघटन का मूल कारण ब्रिटिश शासन की घातक नीति थी।

ब्रिटिश पूर्व अवधि में भारतीय अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें

(1) स्वावलम्बी ग्राम इकाइयाँ (2) कृषि (3) उद्योग व हस्त-शिल्प (4) नगर (5) व्यापार, यातायात एवं संदेश वाहन तथा (6) सामाजिक व्यवस्था।

ब्रिटिश शासन की स्थापना

1600 ई० ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की स्वीकृति दी। सन् 1700 में बंगाल में अपना मुख्य स्थान उसने कलकत्ता में स्थापित किया। 1773 में ब्रिटिश संसद ने रेग्यूलेटिंग एक्ट पास किया। सन् 1784 में पिट का इण्डिया ऐक्ट पास किया।

सन् 1857 के गदर के कारण इस कम्पनी का अन्त हुआ तथा ब्रिटिश सरकार ने शासन अपने हाथ में ले लिया। भारत में लगभग 200 वर्षों तक अंग्रेजों का शासन रहा।

ब्रिटिश शासन का प्रभाव—

(1) सम्पन्नता के मध्य गरीबी का प्रादुर्भाव (2) भारत से धन का प्रवाह (3) भारत पर ऋण (4) निर्मित पदार्थों के निर्यात में कमी (5) आयात में वृद्धि (6) भारतीय उद्योगों का विनाश (7) जमींदारी प्रथा का उदय (8) आर्थिक शोषण व अत्याचार (9) कृषि पर जनभार में वृद्धि तथा (10) अन्य प्रभाव

आर्थिक संक्रान्ति के कारण

(1) ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आगमन व ब्रिटिश शासन की स्थापना (2) इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (3) उद्योगों व व्यापार में वृद्धि (4) परिवहन के साधनों का विकास तथा (5) पाश्चात्य विचारधारा।

आर्थिक संक्रान्ति के प्रभाव—

(1) गाँवों व कृषि पर (2) उद्योगों पर (3) दुर्भिक्षों पर (4) बैंकिंग पर (5) शहरीकरण (6) नये वर्ग सम्बन्ध व (7) अन्य।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है।

प्रश्न

1. ब्रिटिश पूर्व भारतीय अर्थ व्यवस्था की कौन-कौन सी विशेषतायें थीं?
2. ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बारे में आप क्या जानते हैं? भारतीय अर्थ व्यवस्था पर ब्रिटिश शासन का क्या प्रभाव पड़ा?
3. आर्थिक संक्रान्ति किसे कहते हैं? इसके क्या कारण थे? इसका क्या प्रभाव हुआ?
4. आर्थिक संक्रान्ति पर एक निबन्ध लिखिये।

—

अध्याय 2

भारतीय कृषि

(INDIAN AGRICULTURE)

"जब खेती फलती-फूलती है, तब सब धन्धे पनपते हैं, परन्तु जब भूमि को बन्जर छोड़ दिया जाता है, तो धन्धे भी नष्ट हो जाते हैं।"

—सुकरात

"भारत में दलित जातियाँ हैं और उन्हीं के समान हमारे दलित उद्योग भी हैं, दुर्भाग्य से कृषि भी उन्हीं में से एक है।"

—डॉ बलाउसट्न

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के निवासियों का सदियों से कृषि ही मुख्य व्यवसाय रहा है। कहा गया है कि कृषि हमारी संस्कृति का आधार है (Agriculture is the basis of our culture)। यह विश्व का प्राचीनतम व्यवसाय है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका, जर्मनी आदि देश विज्ञान एवम् उद्योगों के क्षेत्र मे बहुत विकसित हो गए जबकि कुछ देश कृषि प्रधान ही बने रहे। भारत में कृषि व्यवसाय का ही प्रभुत्व है। कृषि हमारी जीवन प्रणाली (way of life) है। कृषि विकास के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक कार्यक्रम अपनाये गए। यह सर्वमान्य तथ्य है कि कृषि की उन्नति के बिना भारतीय अर्थ व्यवस्था की उन्नति असम्भव है।

भारतीय अर्थ व्यवस्था में कृषि का महत्व

(Importance of Agriculture in Indian Economy)

भारतीय अर्थ व्यवस्था में कृषि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कहावत है कि "उत्तम खेती, मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी, भीख निदान।" इस कहावत से भारतीय जीवन में कृषि की उपयोगिता प्रतिपादित

होती है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्व निम्नांकित तथ्यों से स्पष्ट हो जायेगा।

1. जीविकोपार्जन (Livelihood) का मुख्य साधन—सन् 1961 की जनगणना के अनुसार हमारे देश की 69·8 प्रतिशत जनसंख्या मुख्यतः कृषि पर आश्रित है। कृषि भारतवासियों का मुख्य व्यवसाय है और इसीलिए भारत को "कृषि प्रधान देश" कहा जाता है।

2 राष्ट्रीय आय (National Income) में महत्वपूर्ण योग—देश की वार्षिक कुल आय का लगभग आधा भाग कृषि से प्राप्त होता है। सन् 1967-68 में कृषि से 14,973 करोड़ रुपये प्राप्त हुए जो कुल राष्ट्रीय आय का 53·1 प्रतिशत है। * राष्ट्रीय आय में कृषि का योग सन् 1950-51 में 51·3 प्रतिशत, सन् 1955-56 में 45·3 प्रतिशत, सन् 1960-61 में 48 7 तथा सन् 1966-67 मे 49·2 प्रतिशत रहा। विश्व मे ऐसा कोई अन्य राष्ट्र नहीं है, जिसमें कृषि ने इतने बड़े प्रतिशत तक देश की आय को प्रभावित किया हो।

3. सरकार की आय—राज्य सरकारों को भूमि के लगान (Land Revenue), कृषि आयकर (Agricultural Income Tax) स्टाम्प तथा पंजीयन (Stamp and Registration) शुल्क के रूप में बहुत-सी आमदनी कृषि से प्राप्त होती है। रेलों को भी कृषि पदार्थों के ढोने से आय प्राप्त होती है। इस प्रकार हमारे देश की सरकारों का बजट कृषि पर निर्भर है।

4. बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य—कृषि के द्वारा ही भारत के करोड़ों लोगों को खाद्य सामग्री उपलब्ध होती है। पिछले कुछ वर्षों मे कृषि हमे आवश्यक भोजन सामग्री प्रदान करने में असमर्थ रही है। यदि हम चाहते हैं कि विदेशों से खाद्यान्न न मंगाने पड़ें तो हमें कृषि की उन्नति करनी होगी। सन् 1967-68 में 12·14 करोड़

* India 1969, p. 158

हैक्टर भूमि पर खाद्यान्न बोए गये जिन पर 955 लाख टन खाद्यान्न पैदा हुए।*

5. असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था (Unbalanced Economy) में कृषि का महत्व—हमारे देश की अर्थ व्यवस्था बहुत असंतुलित है। हमारी जनसंख्या का लगभग 69·8 प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर है। खेती पर अत्यधिक निर्भरता हमारे देश की बहुत बड़ी कमजोरी है। यदि कृषि में किसी प्रकार की गड़बड़ी हो जाए तो देश पर आर्थिक संकट आ सकता है। अतः कृषि का हमारी अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत महत्व है।

भारतवर्ष में कृषि का महत्व

1. जीविकोपार्जन का मुख्य साधन
2. राष्ट्रीय आय में महत्व-पूर्ण योग
3. सरकार की आय
4. जनसंख्या के लिये भोजन
5. असंतुलित व्यवस्था में कृषि का महत्व
6. उद्योगों के लिए कच्चा माल
7. अन्तर्राष्ट्रीय महत्व
8. निर्यात में महत्व
9. सामाजिक व राजनैतिक महत्व

6. उद्योगों के लिए कच्चा माल (Raw materials)—कृषि हमें केवल भोज्य पदार्थ ही नहीं प्रदान करती वरन् हमारे उद्योगों के लिए कच्चा माल भी जुटाती है। कपास सूती वस्त्रोद्योग के लिए, पटसन जूट उद्योग के लिए, गन्ना चीनी उद्योग के लिए, तिलहन तेल उद्योग के लिये, तथा रबर आदि कृषि जन्य वस्तुएं अन्य उद्योगों के आधार का काम करती हैं। भारत में औद्योगिक आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जा रही है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय महत्व (International Importance)—कई कृषि पदार्थों के उत्पादन में भारत का विश्व में बहुत महत्वपूर्ण स्थान

* India 1969, p. 226-229

है। भारत चाय, मूंगफली और गन्ने के उत्पादन में प्रथम स्थान रखता है और लाख के उत्पादन में लगभग एकाधिकार (monopoly) है। चावल, जूट आदि के उत्पादन में भारत संसार का दूसरे नम्बर का देश है। कपास, तिलहन, तम्बाकू व एण्डोली के उत्पादन में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

8. निर्यात (exports) में महत्व—भारत से निर्यात होने वाले पदार्थों में कृषि पदार्थों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहाँ से जूट, तिलहन, चाय, तम्बाकू, कहवा आदि पदार्थ बाहरी देशों को भेजे जाते हैं जिनसे हमें विदेशी मुद्रा मिलती है। यह हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में सहायक है। सन् 1967-68 में चाय, कॉफी, कपास तम्बाकू, फल आदि कृषि-जन्य पदार्थों का निर्यात लगभग 293 करोड़ रुपये के मूल्य का हुआ।*

9. कृषि का सामाजिक व राजनीतिक महत्व (Social and political importance)—कृषि व्यवसाय खुली हवा में किया जाता है इसलिए कृषक आत्मसंयमी होते हैं। इससे हमें सैनिकों की प्राप्ति होती है जो देश की सुरक्षा के लिए अति आवश्यक हैं। साथ ही कृषकों के विचार, उनका पक्ष आदि देश की सामाजिक व राजनीतिक स्थिरता पर विशेष प्रभाव डालते हैं।

इस प्रकार हम कहते हैं कि कृषि भारत का प्राण है, किन्तु वर्त्तमान समय में कृषि के पिछड़ेपन के कारण यह अलाभदायक व्यवसाय बन गया है।

भारतीय कृषि का पिछड़ापन
(Backwardness of Indian Agriculture)

कहा जाता है कि "भारतवर्ष में पिछड़े हुए वर्ग हैं और पिछड़े हुए उद्योग भी, दुर्भाग्यवश कृषि भी इनमें से एक है।" इससे यह स्पष्ट है कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है। "भारत एक सम्पन्न देश है जिसमें निर्धन जनता निवास करती है" (India is a

*India 1969, p. 370-71 पर आधारित

rich country inhabited by poor people) वाली कहावत भी यह स्पष्ट करती है कि भारत की भूमि उपजाऊ और जलवायु कृषि के अनुकूल है फिर भी कृषि उद्योग की स्थिति अच्छी नहीं है।

डॉ. केस्ट्रो के अनुसार "विश्व की दो-तिहाई जनसंख्या स्थायी रूप से भूखी रहती है और उसकी एक-तिहाई जनसंख्या भारत में रहती है, जिसमें से 30 प्रतिशत जनसंख्या तो भूखे स्तर (Starvation level) पर ही रहती है।" इससे भी स्पष्ट होता है कि देश में पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध नहीं है। हमारा देश कृषि प्रधान होते हुए भी हमें विदेशों से अनाज एवम् अन्य कृषि पदार्थ मंगाने पड़ते हैं।

कृषि के पिछड़ेपन की जानकारी के लिए हमारे देश की प्रति एकड़ उपज की तुलना अन्य देशों से की जानी चाहिए। गेहूँ के क्षेत्र में भारत की तुलना में अमेरिका और कनाडा में दुगना तथा मिश्र में तिगुना उत्पादन होता है। भारतीय चावल की प्रति एकड़ पैदावार की तुलना में मिश्र चौगुना, जापान और अमेरिका तिगुना तथा चीन दुगुना उत्पादन करता है। मिश्र हमसे लगभग सात गुनी कपास प्रति एकड़ पैदा करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में प्रति एकड़ उत्पादन विश्व के अनेक देशों की तुलना में बहुत कम है। यहाँ हम कृषि के पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डालेंगे।

कृषि के पिछड़ेपन के कारण—*हमारे देश में कृषि की पिछड़ी दशा के मुख्य कारण ये हैं*—

1. जनसंख्या का भूमि पर अत्यधिक भार (Excessive pressure of population on land) - देश की 69·8 प्रतिशत जनसंख्या कृषि में लगी हुई है, जिससे खेत छोटे-छोटे हो गये हैं और आय कम प्राप्त होती है। खेतों की कई प्रकार की उपज हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाती। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, हमारे देश में प्रति एकड़ उपज भी कम है। भारतीय कृषि की पिछड़ी दशा के मुख्य कारण प्राकृतिक तथा मानवीय हैं।

2. कृषि का वर्षा पर निर्भर होना (Dependence on Monsoon)—हमारी कृषि वर्षा पर निर्भर है। वर्षा अनिश्चित, कम

तथा असमान होती है । अतः अनावृष्टि और अतिवृष्टि दोनों से अकाल पड़ जाते हैं और कृषि को हानि पहुँचती है । अकाल तो भारतीय ग्राम्य अर्थ व्यवस्था के एक अंग बन गये हैं । हमारे देश में अभी तक सिंचाई के साधनों की प्रगति आवश्यकता को देखते हुए बहुत ही कम है और कृषि योग्य क्षेत्र में से केवल पांचवें भाग में ही कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई होती है । भारतीय कृषि वर्षा में एक जुआ है (Indian agriculture is a gamble in rains) । वर्षा अनिश्चित है । कभी अतिवृष्टि हो जाती है तो कभी अनावृष्टि । टिड्डियों का भी प्रकोप रहता है तथा जानवरों द्वारा फसलों को काफी हानि पहुँचती है । पेड़ों को रोग लग जाते हैं । बहुधा कीड़ों और बीमारी से फसलें खराब हो जाती हैं । इन प्राकृतिक प्रकोपों से कृषि उत्पत्ति कम हो जाती है । सरकार सिंचाई के साधनों का प्रबन्ध कर प्राकृतिक कारणों पर अधिकार पाने में संलग्न है ।

3. खेतों का अत्यधिक बिखरा (fragmented) और छोटा होना - खेतों का अत्यधिक छोटे और बिखरे होने के कारण खेती की उपज को हानि होती है । खेतों के अत्यधिक छोटा होने से कुंआ खुदवाने, बाड़ (fence) लगाने और आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग पर धन खर्च करना अलाभिक (uneconomic) हो जाता है । एक खेत से दूसरे खेत को औजार और सामान ले जाने में भी व्यर्थ में बहुत सा श्रम, समय और शक्ति नष्ट होती है ।

कृषि की पिछड़ी दशा के कारण

1. भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार
2. कृषि का वर्षा पर निर्भर होना
3. खेतों का बिखरा व छोटा होना
4. भूमि पर स्थायी सुधार का अभाव
5. कृषकों का निर्धन, अशिक्षित, निर्बल और भाग्यवादी होना
6. पूंजी का अभाव
7. बिक्री के असंतोषजनक साधन
8. वैज्ञानिक ढंग से कृषि न करना
9. सहायक काम-धन्धों का अभाव
10. गांव का साहूकार
11. उत्तम बीज और खाद की कमी

4. भूमि पर स्थाई सुधारों का अभाव—भूमि पर अस्थाई सुधारों के प्रभाव के कारण भी हमारी खेती की दशा हीन है। सिंचाई के साधनों जैसे कुएं, तालाब और नहरों की कमी, बाड़ों (fences) का अभाव, दोषपूर्ण पट्टे की प्रणाली आदि खेती के लिये हानिकारक हैं।

5. श्रमिकों का निर्धन, अज्ञानी, निर्बल और भाग्यवादी (fatalist) होना—हमारे देश के खेती पर काम करने वाले श्रमिक निर्धन, अज्ञानी, निर्बल और भाग्यवादी होते हैं। उनका जीवन स्तर बहुत नीचा है। शिक्षा के अभाव के कारण अधिकांश कृषक अन्ध विश्वासी हैं तथा उनमें उन्नति की भावनाओं का अभाव है। उनकी कृषिविद्या युगों पुरानी है और वे बहुधा परिवर्तनों का विरोध करते हैं। हमारे किसानों की कार्य-कुशलता विदेशी किसानों से बहुत कम है।

6. पूँजी (Capital) का अभाव—खेती की हीनता का एक और कारण पूँजी का अभाव है। दरिद्र होने के कारण किसानों के पास कृषि में पूँजी लगाने को नहीं है। गाय, बैल, पशु आदि ही किसानों की महत्वपूर्ण पूँजी है, जो संख्या में अधिक हैं परन्तु अकुशल हैं। पूँजी नहीं होने से कृषक उत्तम खाद, उत्तम बीज और उत्तम औजार काम में नहीं ला सकता। आधुनिक खेती के यन्त्रों और मशीनों के उपयोग के बारे में तो वह विचार भी नहीं कर सकता।

7. बिक्री के असन्तोषजनक साधन—बिक्री के साधन संतोषप्रद नहीं हैं और अधिकतर किसानों का माल कम कीमत पर गाँव में ही बिक जाता है। ऋणी होने के कारण तथा अन्य कठिनाइयों के कारण उन्हें अपना उत्पादन विवश होकर कम मूल्य पर ही बेच देना पड़ता है जिससे उनकी आय कम होती है, किन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के सूत्रपात में स्थिति में परिवर्तन हुआ है।

8. वैज्ञानिक (Scientific) ढंग से कृषि न करना—कृषि प्रणाली इतनी अविकसित तथा हानिप्रद है, कि जब तक उसे आधुनिक आधार पर संगठित करके इसके तरीकों को बदला नहीं जायगा, हम स्थाई उत्पादन वृद्धि की कोई कल्पना कर ही नहीं सकते। भारतीय किसान

दरिद्रता तथा अज्ञानता के कारण आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करने में हिचकिचाते हैं। अतः कृषि एक पिछड़ा उद्योग बन गया है।

9 सहायक काम-धन्धों (Subsidiary occupations) का अभाव—भारतीय कृषि मौसमी (seasonal) होने के कारण कृषक को खेतों में केवल 6-8 महीने तक ही काम रहता है और बाकी समय में कोई सहायक धन्धा न होने के कारण कृषक बेकार रहता है जिससे उसकी आय कम हो जाती है।

10. गाँव का साहूकार—हमारे देश में खेती की उन्नति में गाँव का साहूकार भी बाधक है। वह ऊँची ब्याज की दर पर, जो 12% से 40% तक पाई जाती है, ऋण देकर हिसाब में गड़बड़ी कर किसानों को चंगुल में फंसाये रखता है। किसानों की फसल सस्ती दर पर खरीद लेता है और बहुत सी रहन रखी हुई जमीन किसानों से महाजनों के हाथों में चली जाती है। ऋणग्रस्त होने के कारण किसानों के पास खेती की उन्नति के लिए धन नहीं रहता तथा उन्हें अपनी फसल भी साहूकार को ही सस्ती दर पर बेचनी पड़ती है।

11. उत्तम बीज और खाद की कमी—किसान निम्न श्रेणी के बीज काम में लेते हैं जिससे अच्छी फसल नहीं होती। किसान खाद की ओर भी विशेष ध्यान नहीं देते। प्रतिवर्ष बहुत सा गोबर उपले बनाकर जला दिया जाता है। हरी खाद, रासायनिक, हड्डी और मछली की खाद का देश में बहुत कम उपयोग होता है। भूमि की उर्वरा शक्ति कम होने से उत्पादन गिरता है।

कृषि उत्पत्ति में सुधार के उपाय (Remedial measures)—

यदि हम कृषि उत्पादन में वृद्धि चाहते हैं, तो खेती में सुधार करने होंगे, जिससे कि प्रति एकड़ उत्पादन दर बढ़े और देश खाद्य तथा उद्योगों के लिए कच्चे माल में आत्म निर्भर बन सके।

1. सिंचाई की योजना का विकास—कृषि की उत्पत्ति में सुधार के लिए यह आवश्यक है कि कृषि को मानसूनों से स्वतन्त्र किया जाय।

अतः सिंचाई के साधनों—नहरों, कुँओं, तालाबों, आदि का शीघ्र विकास नितान्त आवश्यक है।

2. चकबन्दी (Consolidation of holdings) व सहकारी खेती—चकबन्दी और सहकारी खेती (Co-operative farming) द्वारा हम खेती को अन्तर्विभाजन और अपखण्डन (Sub division and fragmentation) के दोषों से बचा सकते हैं और बड़े पैमाने की खेती के लाभ उठा सकते हैं। खेती की उपज में वृद्धि करने के लिये अच्छी खाद, उत्तम बीज, उत्तम औजारों का प्रयोग होना चाहिये। ट्रैक्टरों द्वारा बेकार जमीन को खेती के योग्य बनाना चाहिए। रूस की भांति जगह-जगह ट्रैक्टर स्टेशनों की स्थापना करनी चाहिये जो आधुनिक औजार और उनके फुटकर भागों का संग्रह करें। बैलों की नस्ल (breed) सुधार कर उसकी कार्यशक्ति में वृद्धि करनी चाहिये।

3. कीटाणुनाशक दवाइयों का प्रयोग—तरह-तरह के कीटाणु भी हमारी खेती को बहुत हानि पहुँचाते हैं। टिड्डियों के दल प्रतिवर्ष हरी-भरी फसल को नष्ट करके बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस क्षति को रोकने के लिये कीटाणु-नाशक दवाइयों के प्रयोग का प्रचार किया जाय, जिससे कृषक अपनी फसल की रक्षा कर सके।

कृषि उत्पत्ति में सुधार के उपाय

1. सिंचाई की योजनाओं का विकास
2. चकबंदी व सहकारी खेती
3. कीटाणु-नाशक दवाइयों का प्रयोग
4. सहकारी समितियों का गठन
5. कुटीर उद्योगों की उन्नति
6. कृषकों के विचारों में सुधार
7. पशुओं की दशा में सुधार
8. कृषि का वैज्ञानीकरण

4. सहकारी समितियों द्वारा पूंजी व बिक्री के अच्छे साधनों की सुविधा—सहकारी समितियाँ द्वारा उचित ब्याज पर किसानों को पूंजी उधार देने तथा खेती की उत्पत्ति की बिक्री का उचित प्रबन्ध करने

की सुविधायें होनी चाहिये । देश मे बड़े पैमाने पर विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों - साख, विक्रय, बहुधन्धी आदि— का गठन अत्यावश्यक है ।

5. गांव में कुटीर उद्योगों की उन्नति के द्वारा कृषि पर जन-भार में कमी—गाँवों मे कुटीर उद्योग चालू करने चाहिये, जिससे लोग भूमि पर ही आश्रित न रहें और भूमि पर जन-भार कम हो जाय । इससे बेकारों को काम मिलेगा, किसान अपने बेकार समय का उपयोग कर सकेंगे तथा उनकी आय मे वृद्धि होगी । हमको केवल कृषि परिस्थितियों में नहीं परन्तु कृषक स्वय में भी सुधार करना चाहिये । हमें किसानों का जीवन-स्तर ऊँचा करना है, और उनको शिक्षित बनाना है, जिससे प्रगतिशील हों और उनकी कार्य-कुशलता मे वृद्धि हो । किसानों को यह विश्वास दिलाया जाय कि खेती के सुधारों से होने वाला लाभ उन्हीं का होगा, जिससे कि वे मन लगाकर अपना कार्य करें, और खेती में सुधार करने के लिए प्रयत्न करें । कृषि विकास में भूमि-व्यवस्था के सुधार का महत्वपूर्ण स्थान है ।

6. कृषकों के विचारों में सुधार—अशिक्षा के कारण कृषकों में भाग्यवाद तथा पुराने और बुरे रीति-रिवाजों मे विश्वास उत्पन्न हो गये हैं । अतः यह आवश्यक है कि उनमें शिक्षा का प्रचार किया जाय जिससे उनके विचारों में सुधार हो और वे नये-नये तरीके अपनाकर अपनी उत्पादकता को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करें ।
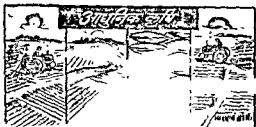
7. पशुओं की दशा में सुधार—हमारे देश में किसानों के पशु बहु दुर्बल है और कम कार्यकुशल हैं तथा बीमारी से घिरे रहते है। इनः नस्ल में सुधार, चारे का उचित प्रबन्ध तथा पशु-अस्पतालों व सुविधाओं का प्रबन्ध करना चाहिये।

8. कृषि का वैज्ञानीकरण (Scientific agriculture)—कृषि विकास के लिए विज्ञान का महत्व बहुत बढ़ गया है। विज्ञान के द्वार प्रकृति पर निर्भरता को दूर किया जा सकता है। रासायनिक तथा अन् प्रकार की खादो के उपयोग, उन्नत और सुधरे हुए कृषि औजारों प्रयोग तथा वैज्ञानिक ढग से खेती करने के लिए प्रचार एव प्रसार करन आवश्यक है।

भारत में कृषि विकास के लिए कृषि नियोजन
(Agricultural Planning)

"हमारे देश की सस्कृति का आधार कृषि ही है।" स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सम्मुख कृषि सुधार की समस्या गम्भीर रूप से उपस्थित हुई। नियोजन के बिना आर्थिक एवं सामाजिक विकास सम्भव नही होता। अतः देश मे कृषि नियोजन की आवश्यकता ही नहीं अपितु अनिवार्य है। भारत मे कृषि-नियोजन के विस्तृत उद्देश्य हैं। कृषि-नियोजन से तात्पर्य केवल भौतिक पदार्थों की पैदावार को बढ़ाना ही नहीं है अपितु देश के प्राकृतिक साधनों का अधिकतम विकास करना, कृषकों का आर्थिक एव सामाजिक विकास करना, शोषण का अन्त करना तथा रोजगार का प्रसार और आर्थिक असमानता को दूर करके देश को शक्तिशाली एवं समृद्धिशाली बनाना है। द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न समस्याओं को हल करने के लिए अनेक योजनायें प्रस्तुत की गईं, जिनमें कृषि को महत्व दिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)—इस योजना में कृषि विकास को प्राथमिकता (Priority) दी गई। इसके कुल 2,356

करोड़ रुपये के आयोजित व्यय में से कृषि, सिंचाई, बिजली आदि के लिए 1,018 करोड़ रुपये रखे गये थे जो कुल व्यय का 43·2 प्रतिशत था। (1) इस योजना मे कृषि, सिंचाई एवं शक्ति के विकास पर 884 करोड़ रुपये व्यय किए गए। (2) खाद्यान्नों में 30%, कपास में 45% तथा तिलहन के उत्पादन में 80% की वृद्धि हुई। (3) सिंचाई की योजनाओं के लिए 518 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। (4) 64·5 लाख हैक्टर भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था की गई। रासायनिक खाद के लिए सिन्दरी मे खाद का कारखाना खोला गया। (5) उत्तम बीज की व्यवस्था, कृषि मे नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान, चकबन्दी, सहकारी साख एवं वितरण समितियों का विकास किया गया। (6) पशुओं की नस्ल में सुधार, सहकारिता, प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा सहकारी कृषि के प्रयोग किए गए और 1,40 000 ग्रामों में सामुदायिक विकास (community development) कार्य आरम्भ किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)—इसमे कृषि के उत्पादन लक्ष्यों (production targets) की प्राप्ति हेतु 666.65 करोड़ रुपये की व्यवस्था थी। इस योजनाकाल के अन्त में कृषि पदार्थों का उत्पादन सूचनांक (Index number) (1949—50=100) के आधार पर 135 हो गया। इस योजनाकाल मे उन्नत किस्म के बीज, खाद तथा सिंचाई के साधनों के विकास के निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकी। उत्पादन लक्ष्यों को भी सन् 1957-58 व 1959-60 वर्षों की फसलों के उत्पादन में कमी के कारण प्राप्त नहीं किया जा सका। प्रथम योजना में कृषि का उत्पादन 17% बढ़ा जबकि द्वितीय योजना में यह वृद्धि 16% ही थी।

द्वितीय योजना-काल मे लगभग 64 लाख हैक्टर भूमि में सिंचाई (Irrigation) का प्रबन्ध किया गया तथा विभिन्न प्रकार की लाखों मी. टन खादों (manures and fertilizers) का अतिरिक्त प्रयोग किया गया।

तृतीय योजना (1961-66)—इस योजना के अन्तर्गत—(1) सिंचाई साधनों का विस्तार, (2) रासायनिक खाद की पूर्ति का विस्तार, (3) उन्नत बीज, (4) पौधों का रक्षण, (5) सुधरे हुए हल और औजारों का विस्तार आदि कार्यक्रम सम्मिलित हैं। इस योजना में कृषि उत्पादन की वृद्धि की दर पहले से दुगुनी करने का लक्ष्य रखा गया है। इस योजना के पाँच उद्देश्यों में से 'खाद्यान्नों में आत्म निर्भरता प्राप्त करना एवं उद्योगों और निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए कृषि का उत्पादन बढ़ाना' भी एक उद्देश्य है। इस अवधि में खाद्यान्नों का उत्पादन 30 प्रतिशत तथा अन्य फसलों का उत्पादन 31 प्रतिशत बढ़ाये जाने की व्यवस्था थी। सिंचित क्षेत्र 2·82 करोड़ हैक्टर से बढ़कर 3·62 करोड़ हैक्टर हो जाने का अनुमान था। इस योजना में कृषि विकास पर 1089 करोड़ रुपये खर्च हुए।*

चतुर्थ योजना—सन् 1966 से 1971 तक की प्रस्तावित† चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि कार्यक्रमों के लिए 1,944 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। संशोधित योजना-प्रारूप में कृषि विकास हेतु 2217 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।‡ इस योजना में कृषि को परम्परागत जीवन-यापन की पद्धति के स्थान पर औद्योगिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का लक्ष्य रखा गया था। सिंचाई, भू-संरक्षण, भूमि सुधारों आदि कार्यक्रमों को प्राथमिकता देने की व्यवस्था की गई थी।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सरकार ने अर्थ व्यवस्था में कृषि के महत्व को स्वीकार कर पंचवर्षीय योजनाओं में इसके विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया है। फिर भी कृषि के क्षेत्र में अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

---

* Aspects of the Fourth Plan, p. 4

† चतुर्थ योजना तीन वर्षों के लिए स्थगित कर दी गई थी। अब यह योजना 1 अप्रैल 1969 से प्रारम्भ हो गई है।

‡ Yojna, April 20, 1969—p. 16

सारांश

भारत कृषि प्रधान देश है। कृषि हमारी जीवन प्रणाली एवम् ...ति का आधार है।

कृषि का अर्थ व्यवस्था में महत्व—जीविकोपार्जन का मुख्य साधन, ...य आय में योग, सरकार की आय, जनसंख्या के लिए भोजन, ...तुलित अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्व, उद्योगों के लिए कच्चा माल, ...ष्ट्रीय महत्व, निर्यात में महत्व, सामाजिक व राजनीतिक महत्व। कृषि अर्थ व्यवस्था का प्राण है।

कृषि का पिछड़ापन—अन्य देशों की तुलना में भारतीय प्रति एकड़ ...त पैदावार कम है। कारण—भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक ..., कृषि का वर्षा पर निर्भर होना, खेतों का बिखरा व छोटा होना, ...पर स्थायी सुधारों का अभाव, कृषकों का निर्धन होना, अशिक्षित, ...ल व भाग्य-वादी होना, पूंजी का अभाव, बिक्री की असन्तोषजनक ...स्था, वैज्ञानिक कृषि का अभाव, सहायक धन्धों का अभाव, साहूकार ...दोषपूर्ण कार्यप्रणाली, उत्तम बीज व खाद की कमी।

कृषि में सुधार के उपाय—सिंचाई, चकबन्दी व सहकारी कृषि, ...गुनाशक दवाओं का प्रयोग, सहकारी समितियों का गठन कुटीर ...ग की उन्नति, कृषकों के विचारों में सुधार, पशुओं की दशाओं में ...र, कृषि का वैज्ञानीकरण।

विकास और नियोजन—

प्रथम योजना में कृषि विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई। योजना में कृषि विकास पर कुल योजना व्यय का 43.2 प्रतिशत खर्च हुआ।

द्वितीय योजना में 667 करोड़ रुपये खर्च करके कृषि उत्पादन में ...49-50 की तुलना में) 35 प्रतिशत वृद्धि हुई।

तृतीय योजना में कृषि उत्पादन की दर को दुगुना करने का लक्ष्य ...गया। इस योजना में कृषि विकास कार्यों पर 1089 करोड़ खर्च हुए।

चतुर्थ योजना में कृषि को औद्योगिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य रखा गया है।

सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कृषि विकास कार्यक्रमों पर जोर दे रही है।

प्रश्न

1. भारतीय कृषि के प्रमुख दोषों की व्याख्या कीजिये तथा कृषि-सुधार के उपाय बताइये।
2. भारतीय अर्थ व्यवस्था में कृषि का महत्व बताइये। भारतीय कृषि के पिछड़े होने के क्या कारण हैं? इसके सुधार के उचित उपाय सुझाइये। (राज. बो., हा. से., 1965)
3. भारतीय कृषि की उन्नति के सुझाव दीजिये। (राज. बो., हा. से. 1967)
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (ख) भारत में कृषि उपज कम होने के प्रमुख कारण। (राज. बो., हा. से. 1969)

अध्याय 3

भारत में कृषि की जोतें

(AGRICULTURAL HOLDINGS IN INDIA)

"भारत में भूमि को 'आर्थिक भूकम्पों' के कारण बार-बार उप-विभाजित होना पड़ता है।"

—नावेल्स

"भूमि के उपविभाजन और अपखण्डन से साहस नष्ट होता है, श्रम की बड़े पैमाने पर बर्बादी होती है, सीमा बनाने में भूमि का बहुत सा भाग बेकार हो जाता है और गहरी खेती असम्भव होती है।"

—डॉ० मॅन

भारतीय कृषि को विकसित करने के उपायों में आर्थिक जोत (Economic holding) का निर्माण करना उल्लेखनीय है। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में कृषि जोतों का आकार सतोषप्रद नहीं है। पिछले कुछ वर्षों से इस दिशा में सुधार के कतिपय प्रयास किए गए हैं। यहाँ हम कृषि जोतों के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा करेंगे।

कृषि जोत का अर्थ एवं महत्व—कृषि जोत या इकाई का तात्पर्य उस भूमि के क्षेत्र से है जिस पर कृषक द्वारा कृषि की जाती है। कृषि जोत का प्रभाव कृषक एवं कृषि दोनों पर ही पड़ता है। बिना उचित कृषि जोत के अच्छे बीज, खाद, यंत्र आदि का प्रयोग सम्भव नहीं हो सकता। कृषि में स्थायी सुधारों का लागू करना भी कृषि जोत के आकार पर निर्भर करता है। इस प्रकार कृषि जोत का आकार कृषि सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

कृषि जोतों के प्रकार (Types of Agricultural holdings)

कृषि जोतों को मुख्यतः निम्नांकित भागों में बांटा जा सकता है—

1. आर्थिक जोत (*Economic holding*)—डॉ॰ मन के अनुसार "आर्थिक जोत वह जोत है जो इस पर निर्भर रहने वाले परिवार को एक सामान्य प्रकार के जीवन स्तर की सुविधाएँ प्रदान कर सके।" यह वह इकाई है जो किसान को साधारण जीवन स्तर पालन करने हेतु वांछित आमदनी प्रदान कर सके। सरकार अनार्थिक जोतों के स्थान पर इन इकाइयों की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील है।

कृषि जोतों के प्रकार
1. आर्थिक जोत
2. बुनियादी जोत
3. आदर्श जोत
4. अनार्थिक जोत

2. बुनियादी जोत (Basic Holding)—यह वह जोत है जो आर्थिक जोत से आकार में छोटी है तथा जिससे कम आकार की इकाई आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होती है। यह कृषक को न्यूनतम जीवन स्तर हेतु आवश्यक आय प्रदान करती है। देश के अनेक भागों में यह इकाई भी उपलब्ध नहीं है।

3. आदर्श या अनुकूलतम जोत (Optimum holding)—आदर्श जोत कृषि का वह आकार होता है जिस पर कृषक को उसके द्वारा भूमि पर लगाये गये साधनों की तुलना में अतिरिक्त लाभ मिलता है। राज्य द्वारा किसी भी व्यक्ति के पास रखी जाने वाले इस जोत का अधिकतम आकार निर्धारित कर दिया जाता है। सामान्यतः इस जोत का आकार आर्थिक जोत से तीन गुना होता है। आर्थिक विषमताओं को दूर करने की दिशा में आदर्श जोत का निर्धारण सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

4. अनार्थिक जोतें (*Uneconomic holdings*)—ऐसी छोटी इकाइयां जिसमें कृषि व्यवसाय का संचालन अलाभदायक हो अनार्थिक जोतो के नाम से पुकारी जाती हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार की जोतों

का बाहुल्य है। देश में कुछ स्थानों पर जोतों का आकार इतना छोटा है कि उन्हें 'खिलौना जोत' (Toy holding) के नाम से पुकारा जाता है। इन जोतों के बारे में हम खेतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या के अन्तर्गत विस्तार से पढ़ेंगे।

खेतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन

(Sub-division and Fragmentation of holdings)

अर्थ—'उपविभाजन' (Sub-division) का अर्थ उत्तराधिकारियों में खेत का बार-बार छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर देने से है। किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी भूमि का वितरण उसके उत्तराधिकारियों मे किया जाता है और फिर इसका पुनर्विभाजन किया जाता है। इस क्रिया से भूमि का बार-बार विभाजन होता है और खेतों का आकार छोटा होता चला जाता है।

'अपखण्डन' (Fragmentation) का तात्पर्य भूमि के उन टुकड़ों से होता है जो एक चक मे न होकर दूर-दूर स्थित होते हैं। संक्षेप में, भूमि का छोटे-छोटे खेतों मे बांटा जाना उपविभाजन और खेतों का दूर-दूर बिखरा होना अपखण्डन कहलाता है।

भारतवर्ष में खेतों का आकार छोटा होने के साथ-साथ दूर-दूर बिखरे होने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। कुछ सर्वेक्षणों के अनुसार भारत मे जोत (holding) का औसत आकार 3·2 हेक्टर (7.5 एकड़) है। किन्तु नेशनल सेम्पल सर्वे (N. S. S.) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में जोतो (holdings) का औसत आकार 5·43 एकड़ है। यदि हम दूसरे देशों* की जोतों के औसत आकार से इसकी तुलना करें तो स्पष्ट हो जायगा कि भारत में खेतों का आकार बहुत छोटा है। इतना ही नहीं जोत का औसत आकार भारत के विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न है। जहाँ राजस्थान मे जोत का औसत आकार

*कुछ प्रमुख देशों की जोतों का औसत आकार इस प्रकार है—संयुक्त राज्य अमेरिका 215 एकड़, ब्रिटेन 66 एकड़, फ्रांस 26 एकड़, युगोस्लाविया 11 एकड़ आदि।

·684 हेक्टर (17 एकड़) है वहाँ बिहार में 4 और केरल में 1·05 हेक्टर (25 एकड़) की औसत जोत है। अपखण्डन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के अध्ययन किये गये हैं जिनसे पता लगता है कि खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे हुए नहीं हैं, वरन् जोत एक स्थान पर न होकर दूर-दूर स्थित है। डॉ० मॅन (Mann) ने दक्षिण के एक गाँव का सर्वेक्षण करके पता लगाया कि गाँव के 156 कृषकों के पास 418 खेत के टुकड़े थे जिनमें से लगभग 535 खेतों का आकार ·403 हेक्टर (एक एकड़) से भी कम था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में खेतों का उपविभाजन के साथ-साथ अपखण्डन की समस्या भी पाई जाती है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारण—अब हम कृषि के विकास को कुंठित करने वाली इस समस्या के कारणों का अध्ययन करेंगे।

1. हमारे देश की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है किन्तु औद्योगीकरण का विकास तेजी से न हो सकने के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार (Pressure of population) बढ़ता जा रहा है। परिणाम-स्वरूप खेतों का आकार छोटा होता जा रहा है।

खेतों में उप-विभाजन एवम् अपखण्डन के कारण
1. जन-संख्या की वृद्धि
2. उत्तराधिकार के नियम
3. संयुक्त परिवार प्रथा का अंत
4. कुटीर-उद्योगों का ह्रास
5. भूमि को साझे पर देने की प्रथा.

2. उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance and Succession)—हमारे देश में उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार पिता की मृत्यु के बाद भूमि उसके पुत्रों में समान रूप से बाँटी जाती है। यहाँ इंग्लैंड की तरह ज्येष्ठाधिकार (Primogeniture) पद्धति का प्रचलन नहीं है। इस प्रकार भूमि का विभाजन छोटे-छोटे अनार्थिक टुकड़ों में हो जाता है।

3. संयुक्त परिवार (Joint family) प्रथा का अन्त—भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल से यह प्रथा प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत

परिवार के सदस्य साथ-साथ रहते थे और भूमि का बंटवारा नही होता था। किन्तु पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा ने व्यक्तिवादी भावना को प्रोत्साहन दिया है। परिणामस्वरूप अब परिवार के सदस्य भूमि एवं अन्य सम्पत्ति का विभाजन करके अपना हिस्सा अलग रखना चाहते हैं।

4. कुटीर उद्योगों का ह्रास—अनेक कारणों से कुटीर उद्योगों का ह्रास हो गया और जो कारीगर इन उद्योगों में लगे हुए थे वे भी कृषि पर आधारित हो गए। फलस्वरूप खेतों के टुकड़े छोटे-छोटे हो गये।

5. भूमि के प्रति मोह—भूमि सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड तो है ही, साथ ही स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के लिए मनुष्य खेती का ही सहारा लेता है। हमारे देश मे किसानो का भूमि के प्रति बहुत मोह है और वे भूमि के छोटे से छोटे टुकड़े को भी अपने ही पास रखना चाहते हैं। प्रत्येक उत्तराधिकारी अपने पिता के सभी खेतों में हिस्सा लेना चाहता है जिससे खेतों के दूर-दूर स्थित होने की समस्या को बढ़ावा मिलता है।

6. भूमि को साझे पर देने की प्रथा—बड़े बड़े भूमिपति बहुधा अपनी भूमि पर स्वयं खेती नही करते। वे अपनी भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों मे बाँटकर अलग-अलग किसानों को साझे पर दे देते हैं। इससे भूमि के जोत का मालिक एक होते हुए भी जोत के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन की हानियां (Disadvantages)—खेतो के छोटे-छोटे एवं बिखरे होने से खेती में कई हानियाँ होती हैं और कृषि आर्थिक दृष्टि से अलाभप्रद हो जाती है। इसके मुख्य दोष इस प्रकार हैं—

1. कृषि उत्पादन लागत (Cost of production) में वृद्धि—खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभाजन होने पर किसान अपने साधनो का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकता। कई खेत तो ऐसे होते है जिनमें

बुआई भी नहीं की जा सकती और यदि उनमें खेती की भी जाय तो उत्पादन से लागत अधिक हो जाती है।

2. कृषि सुधारों (Agricultural Improvements) का संभव न होना—खेतों का क्षेत्रफल छोटा होने पर भूमि पर कृषि सुधार नहीं किए जा सकते। छोटे-छोटे खेतों पर कुआं खोदना, पक्की नालियाँ बनाना आदि लाभदायक नहीं होता। इन सुधारों के अभाव में कृषि की प्रति एकड़ पैदावार में कमी आती है।

3. बाड़, मेड़ आदि लगाने में कठिनाई—जानवरों आदि से फसलों की रक्षा करने के लिए आवश्यक खेतों की बाड़ (fence) वगैरह लगाई जाएं। जहाँ खेतों के टुकड़े बहुत छोटे-छोटे और दूर-दूर स्थित हों वहाँ बाड़ लगाने में बहुत खर्चा होता है और बहुत बाड़ लगाने और मेड़ें छोड़ने से उतनी भूमि खेती के काम में नहीं ली जा सकती।

4. यांत्रिक खेती (Mechanised farming) असम्भव हो जाती है—छोटे खेतों पर यांत्रिक खेती लाभदायक नहीं होती। ट्रैक्टर, बुलडोजर, थ्रेशर, आदि समय और श्रम बचाने वाले यन्त्र (time and labour saving devices) का प्रयोग छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों पर नहीं किया जा सकता।

5. निगरानी (Supervision) में कठिनाई—छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों की देखभाल या निगरानी करना न केवल कठिन ही होता है, वरन् खर्चीला भी होता है।

6. समय, श्रम व धन का अपव्यय (wastage)—खेत दूर-दूर स्थित हों तो कृषि के औजार, पशु आदि साधनों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने में समय, श्रम व धन का अपव्यय होता है जिससे कृषि अलाभदायक व्यवसाय बन जाता है।

7. झगड़े और मुकदमेबाजी (litigation)—खेतों के दूर-दूर स्थित होने की दशा मे मार्ग, सीमा, पानी, बाड़ सम्बन्धी अनेक झगड़े पैदा हो जाते हैं । फलस्वरूप किसान आपस में एक दूसरे से लड़ते हैं और मुकदमेबाजी चलती है जिनमे धन, समय व शक्ति की बर्बादी होती है ।

उप-विभाजन एवम् अपखंडन से हानियां
1. कृषि उत्पादन लागत मे वृद्धि
2. कृषि सुधारों का सम्भव न होना
3. बाड़-मेड़ लगाने में कठिनाई
4. यान्त्रिक खेती असम्भव
5. निगरानी में कठिनाई
6. समय, श्रम व धन का अपव्यय
7. झगड़े और मुकदमेबाजी
8. पूंजी मिलने में कठिनाई
9. गहरी खेती सम्भव नहीं
10. खेती का असुविधाजनक और भूमि का बेकार होना

8. पूंजी मिलने में कठिनाई–जब खेतों का आकार छोटा होता है तो इनको रहन (mortgage) रख कर रुपया उधार नहीं मिलता, और यदि मिलता भी है तो बहुत कम । बिना रहन रखे ऊँची ब्याज दर देनी पड़ती है ।

9. गहरी खेती (intensive cultivation) सम्भव नहीं—भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों मे दूर-दूर स्थित होना गहरी खेती को कठिन बनाता है, क्योंकि कृषि सुधार के विभिन्न साधनों को इन टुकड़ों पर नहीं लगाया जा सकता ।

10. खेती का असुविधाजनक तथा कृषि योग्य भूमि का बेकार होना—खेतों के दूर-दूर होने तथा उनका आकार छोटा होने से उन पर श्रम और पूंजी की व्यवस्था करने मे कठिनाई होती है और कई खेतों को बिना काश्त किए ही छोड़ना पड़ता है ।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के लाभ (Advantages)—खेतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के पक्ष में कुछ दलीलें दी जाती हैं जो इस प्रकार हैं—

1. "सभी अण्डे एक टोकरी में मत रखो" (Do not keep all the eggs in one basket) एक पुरानी कहावत है। ठीक इसी प्रकार भूमि के भिन्न-भिन्न टुकड़ों पर खेती करने से किसान आर्थिक संकट से बच सकता है। यदि एक खेत पर फसल खराब हो जाय तब भी किसान दूसरे खेतों की उत्पत्ति से गुजारा कर सकता है। अतः बिखरे खेतों पर कृषि करने से जोखिम (risk) बंट कर कम हो जाता है।

2. डा० राधाकमल मुकर्जी का मत है कि भूमि के अलग-अलग टुकड़ों पर खेती करने से भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु में विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं। विभिन्न प्रकार की फसलें उगाने से किसान को अधिक दिनों तक काम मिलता है। पर यह दलील अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि अपखण्डन का अर्थ प्रायः एक ही प्रकार की मिट्टी और जलवायु वाले खेतों से है।

3. कुछ लोग यह दलील भी देते हैं कि उप-विभाजन से किसान का आर्थिक स्तर समान होता है और पूंजीवादी कृषि (capitalistic farming) नहीं पनप पाती। परन्तु भारत में भूमि का विभाजन इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में हो गया है कि अब इनसे लाभ होने के बजाय हानि ही अधिक होती है।

समस्या का उपचार और प्रगति

इस समस्या का शीघ्र निवारण बहुत ही आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से सरकार कई उपाय काम में ला रही है जिनसे समस्या का समाधान करके भविष्य में होने वाले भूमि के उप-विभाजन एवं अपखण्डन को रोका जा सकेगा। यहाँ हम इन उपायों और उनकी प्रगति के बारे में भी विचार करेंगे।

1. भूमि पर जनसख्या के भार में कमी की जानी चाहिये—देश में औद्योगीकरण का विकास करके भूमि पर जनसख्या के बढ़े हुए भार में ... करने से खेतों के भावी विभाजन की समस्या को दूर किया जा ... है। यह एक दीर्घकालीन उपाय (long term measure) है।

2. उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन—कुछ लोगों का मत है खेतों में इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने उत्तराधिकार के नियमों परिवर्तन किया जाना चाहिए र इंग्लैण्ड की भांति ही ज्येष्ठा-कार नियम बना लेना चाहिये। ा करने से भूमि के स्वामी की ु के बाद सबसे बड़े लड़के को भूमि का स्वामित्व प्राप्त हो गा। किन्तु इस प्रकार का नियम नाया जाना भारत में अव्यव-रिक प्रतीत होता है। फिर भी नियम तो बनाया ही जा सकता जिसमें सभी उत्तराधिकारियों भूमि पर बराबर अधिकार तो किन्तु खेती के लिए भूमि को टुकड़ों में न बाँटा जाय।

उप विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या का उपचार

1. भूमि पर जनसंख्या का भार कम करना चाहिये
2. उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन
3. चकबन्दी
4. कानून द्वारा आर्थिक जोतों का निर्माण
5. जोतों की सीमा निर्धारण
6. सहकारी कृषि

3. चकबन्दी (Consolidation of holdings)—इस समस्या सुलझाने का सबसे प्रभावशाली उपाय चकबन्दी है। चकबन्दी के किसान को उसके विभिन्न भूमि के टुकड़ों के बदले एक ही स्थान समान कीमत की भूमि दी जाती है। चकबन्दी के सम्बन्ध में ब्रिटेन, र, फ्रांस, डेनमार्क व अन्य में परीक्षण किये गए हैं जिनसे यह स्पष्ट या है कि प्राय: किसान स्वेच्छा से (voluntarily) चकबन्दी करने यार नहीं होते।

भारतवर्ष में सबसे पहले ... का कार्य बड़ौदा, और उत्तर-प्रदेश आदि ... में प्रारम्भ किया था। परन्तु इसके ... रहा है, क्योंकि

किसानों के विरोध करने पर उन्हें चकबन्दी के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। धीरे-धीरे ऐसे कानून बनाए गए जिनके अन्तर्गत चकबन्दी में अनिवार्यता का तत्व (element of compulsion) सम्मिलित कर लिया गया। कानूनों के अन्तर्गत यदि खातेदारों का एक निश्चित भाग चकबन्दी करना चाहे तो दूसरे न चाहने वाले काश्तकारों को भी चकबन्दी करने के लिए बाध्य (force) किया जा सकता है। इस प्रकार के कानून बन जाने पर भी चकबन्दी का कार्य अधिक प्रगति न कर सका। इसलिए ऐसे कानूनों की आवश्यकता हुई जिनके द्वारा चकबन्दी का अधिकार सरकार को मिल सके। सबसे पहले सन् 1947 में बम्बई में इस प्रकार का कानून बना। इसी प्रकार के कानून पंजाब, दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, आंध्र प्रदेश, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर आदि राज्यों में बन गए हैं। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत चकबन्दी कार्यक्रम का महत्वपूर्ण विकास हुआ। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 11·05 हैक्टर (3 करोड़ एकड़) भूमि पर चकबन्दी हो चुकी थी। तृतीय योजना काल में 11·245 हैक्टर (3·10 करोड़ एकड़) भूमि पर चकबन्दी करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अभी तक चकबन्दी का सबसे अधिक कार्य पंजाब में हुआ है जहाँ 7·01 लाख हैक्टर (175 लाख एकड़) भूमि पर चकबन्दी हो गई है राजस्थान में लगभग 10·42 लाख हैक्टर (26 लाख एकड़) भूमि पर चकबन्दी का कार्य सम्पन्न हो चुका है।

4. **आर्थिक जोतों (Economic holdings) का निर्माण**—आर्थिक जोत वह जोत है जो एक औसत परिवार (*average family*) को सन्तोषजनक जीवन स्तर प्रदान कर सके। इस प्रकार की जोतों का कानून निर्माण करने से खेतों को उप-विभाजन और अपखण्डन से रोका जा सकेगा। आर्थिक जोत का निर्धारण करते समय अन्य कई बातों पर ध्यान रखा जाता है जैसे—भूमि की उर्वरा शक्ति, सिंचाई की सुविधाएं, ग्रामों से दूरी, खेती के साधन और पद्धति आदि। इस प्रकार आर्थिक जोत का आकार विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न होगा।

5. जोतों का सीमा निर्धारण (Ceiling no land holding)—यह भी सुझाव दिया जाता है कि छोटे-छोटे खेतों की समस्या को दूर करने के लिए जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। जिन लोगों के पास इस सीमा से अधिक भूमि हो, सरकार उन्हें मुआवजा देकर प्राप्त करले और उसे आर्थिक जोत से कम क्षेत्र वाले खेतों में मिला दे। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में अधिकतम सीमा निर्धारण के कार्य पर जोर दिया गया। सीमा निर्धारण के भी दो पहलू हैं—(1) वर्तमान भूमिपतियों के पास जो जमीन है उसकी अधिकतम सीमा का निर्धारण और (2) भविष्य में जो जमीन ली जाये उसकी सीमा का निर्धारण। अधिकतम सीमा निर्धारण में भी भूमि की उर्वरा शक्ति, सिंचाई के साधन आदि बातों का प्रभाव पड़ता है। देश के लगभग सभी राज्यों में सीमा निर्धारण के कानून लागू कर दिये गये हैं। राजस्थान में यह सीमा (भावी तथा वर्तमान दोनों ही जोतों पर) 25 से 336 स्टेण्डर्ड एकड़* निर्धारित की गई।

सहकारी कृषि (Co-operative farming)—भूमि के उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या से बचने के लिए सहकारी कृषि भी अपनाई जा सकती है। छोटी जोतों की वर्तमान समस्या का निराकरण तो चकबन्दी से हो जाएगा, किन्तु भविष्य में विभाजन को रोकने का प्रभावशाली तरीका केवल सहकारी कृषि ही है। इस पद्धति के अंतर्गत छोटे-छोटे किसान मिलकर सहकारिता के सिद्धान्तों पर कृषि सहकारी समितियाँ (Better Farming Societies) बनाकर किसानों को अच्छी खाद, बीज आदि सेवाएं दी जाती हैं। द्वितीय योजना में सहकारी कृषि के विकास पर अधिक बल दिया गया। भारत में पाइलट योजनाओं (Pilot projects) के अन्तर्गत तृतीय योजना के अन्त तक 2,749 सहकारी कृषि समितियों का गठन किया जा चुका था। इसके अतिरिक्त 2,752 सहकारी कृषि समितियां पाइलट योजनाओं के क्षेत्र के बाहर

---

* India 1969, p. 253

बनाई गई। तृतीय योजना के अन्तर्गत सरकार द्वारा साफ की गई भूमि का वितरण करने में सहकारी कृषि समितियों को प्राथमिकता दी गई। जून 1967 में सहकारी कृषि समितियों की संख्या 7,866 थी।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उप-विभाजन एवम् अपखण्डन कृषि के लिए बहुत हानिकारक है। इसे दूर करने के प्रयत्नों से आर्थिक जोत के निर्माण को बल मिलेगा। प्रसन्नता की बात है सरकार सहकारी कृषि, चकबन्दी एवं अधिनियमों के आधार पर समस्या के हल के लिए जागरूक है।

सारांश

कृषि के उत्थान के लिए आर्थिक जोतों का निर्माण आवश्यक है।

आर्थिक जोत—वह जोत है जिस पर एक परिवार सामान्य जीवन स्तर के लिए साधन जुटा सके।

बुनियादी जोत—वह जोत है जिसके बिना कोई भी कृषक न्यूनतम जीवन स्तर के लिए आय प्राप्त नहीं कर सकता।

आदर्श जोत—वह अधिकतम जोत है जिस पर लगाये गए साधनों की तुलना में अतिरिक्त लाभ मिलता है।

अनार्थिक जोत—वह है जिसके कारण कृषि अलाभदायक व्यवसाय बनी हुई है। भूमि का उप-विभाजन व अपखण्डन ही इसके लिए उत्तरदायी हैं।

उपविभाजन व अपखण्डन के कारण—

(1) जनसंख्या की वृद्धि, (2) उत्तराधिकार के नियम, (3) संयुक्त परिवार प्रथा का अन्त, (4) कुटीर उद्योगों का ह्रास, (5) भूमि के प्रति मोह तथा (6) भूमि को साझे पर देने की प्रथा।

* India 1969, P. 272

हानियाँ—उत्पादन लागत में वृद्धि, कृषि सुधारों का सम्भव न होना, बाड़-मेड़ की कठिनाई, यान्त्रिक खेती असम्भव, निगरानी की कठिनाई, समय, श्रम और धन का अपव्यय, झगड़े और मुकदमेबाजी, पूंजी मिलने में कठिनाई, गहरी खेती में कठिनाई, खेती का असुविधाजनक तथा भूमि का बेकार होना।

लाभ—किसान की आर्थिक संकट से रक्षा, भूमि की विभिन्नता का लाभ, पूंजीवादी कृषि का न पनप सकना।

समस्या का उपचार—भूमि पर जनसंख्या के भार में कमी, उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन, चकबन्दी, कानून द्वारा आर्थिक जोतों का निर्माण, जोतों का सीमा निर्धारण तथा सहकारी कृषि।

सरकार आर्थिक जोतों के निर्माण के प्रति जागरूक है।

प्रश्न

1. भारतीय अर्थ व्यवस्था में कृषि जोतों के उपविभाजन व अपखंडन के कारणों का उल्लेख कीजिये। इसके दोषों का वर्णन करते हुए उपायों पर प्रकाश डालिए।
2. भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन के कारण बताते हुए समस्या को सुलझाने के उपायों का विवेचन कीजिये।
3. उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिए भारत में किए गये प्रयत्नों का उल्लेख कीजिये।
4. टिप्पणियां लिखिए—(अ) चकबन्दी (Consolidation) (राज. बोर्ड, हा. से. 1964) (ब) आर्थिक जोत (Economic holdings), (स) सीमा (Ceiling) निर्धारण।
5. "छोटी अनार्थिक जोतें ही कृषि विकास में आने वाली अनेक कठिनाइयों की जड़ हैं।" इस उक्ति की व्याख्या कीजिए।

(राज. बोर्ड, हा. से., 1961 तथा 1964)

6. भूमि के उप-विभाजन व विखण्डन का क्या अर्थ है ? इसके परिणामों को समझाइये । (राज. बोर्ड, हा. से., 1966)

7. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए —

(अ) कृषि जोतों की चकबन्दी (राज. बोर्ड, हा. से., 1968)

(आ) सहकारी कृषि ।

8. भारत में भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन के कारणों का विवेचन कीजिये ।

(राज. बोर्ड, हा. से., 1969)

अध्याय 4

कृषि के साधन I

AGRICULTURAL INPUTS—I

"मेरे अनुमान से पुराना हल पिछले 2000 या 3000 वर्षों से काम आ रहा है। मुझे मालूम नहीं कि कितने समय से यह प्रयुक्त हुआ है।" यदि आप बहुत अच्छा हल लाते हैं तो बैल इतने बलवान नहीं कि वे उसे खींच सकें।"लेकिन ये सब ऐसी समस्याएं हैं जिनका हल निकाला जा सकता है।"

—श्री जवाहर लाल नेहरू

भारत की कुल जनसंख्या का 69·8 प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर है। यह हमारी जनसंख्या के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन है, और कृषि से राष्ट्रीय आय में बहुत योगदान मिलता है। सन् 1967-68 में कृषि से राष्ट्रीय आय का 53·1 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ। किन्तु कृषि लाभदायक व्यवसाय नहीं है। इतनी बड़ी जनसंख्या कृषि कार्यों में लगी होने पर भी हमें विदेशों से अनाज मंगाना पड़ता है। विश्व के अन्य देशों की अर्थ व्यवस्थाओं के अध्ययन से पता लगेगा कि अमेरिका में केवल 13 प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में 12 प्रतिशत, कनाडा में 15 प्रतिशत और फ्रान्स में 25 प्रतिशत, जनसंख्या ही कृषि पर अवलम्बित है फिर भी वे अर्थ व्यवस्थाएं स्वावलम्बी हैं और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद भी वहां से लाखों टन अनाज दूसरे देशों को भेज दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत की तुलना में विश्व के अनेक देशों का प्रति एकड़ औसत उत्पादन कहीं अधिक है। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि उन्नत अवस्था में नहीं है। तीसरे अध्याय में हमने कृषि के पिछड़ेपन के कारणों का विस्तार से अध्ययन किया था। इन

कारणों में से अधिकांश ऐसे हैं जो कृषि के साधनों (Agricultural Inputs) से सम्बन्ध रखते हैं। इस अध्याय में हम उन साधनों का विस्तृत अध्ययन करना चाहेंगे जो कृषि की उन्नति को प्रभावित करते हैं।

कृषि के साधनों का महत्व—प्रगतिशील कृषि के लिए कृषि-साधनों का महत्व अधिक है। जिस अर्थ व्यवस्था में कृषि साधन उन्नत अवस्था में है उस अर्थ व्यवस्था की विकास की दर (Rate of growth) संतोषजनक होती है। वहाँ प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति अधिक होती है और उत्पादन की लागत (Cost of production) काफी कम होती है। कृषि साधनों से सम्पन्न देशों में कृषि लाभदायक (Porfitable) व्यवसाय होता है और वह राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण योग देती है। इसके विपरीत जहाँ ये साधन पिछड़ी हुई अवस्था में होते हैं वहाँ कृषि अलाभदायक व्यवसाय बन जाता है।

भारतवर्ष में कृषि विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। कृषि विकास के बिना औद्योगिक विकास की गति को तीव्र नहीं बनाया जा सकता। इन सब दृष्टियों से कृषि साधनों का पर्याप्त मात्रा में होना बहुत आवश्यक है।

कृषि के साधन—भारतीय कृषि साधनों के अन्तर्गत उन्नत बीज, उर्वरक, कृषि उपकरण, पशु, सिंचाई की सुविधाएँ तथा साख सुविधाएँ सम्मिलित की जाती हैं। इनका कृषि विकास से बहुत गहरा सम्बन्ध है। इस अध्याय में हम उन्नत बीज (Improved Seed), उर्वरक (Fertilizers), कृषि उपकरण (Agricultural implements) तथा पशुओं (Animals) के सम्बन्ध में विचार करेंगे। सिंचाई एवम् कृषि साख का अध्ययन आगामी दो अध्यायों में किया जाएगा।

उन्नत बीज (Improved Seed)—उत्तम बीजों का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना कृषि विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह कृषि सुधार की विधियों में सबसे सरल एवं कम खर्च वाली है। उन्नत

बीजों को अपनाने से कृषि पैदावार में 10 से 15 प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। उत्तम बीजों के चुनाव, शकर बीजों (Hybrid Seeds) के प्रयोग एवम् उन बीजों के प्रयोग करने से सम्बन्धित जानकारी का प्रसार कृषि विकास में महत्वपूर्ण योग देता है।

भारतीय कृषक उन्नत बीजों का महत्व जानता है। किन्तु अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वह अपने ही संग्रहित बीजों का प्रयोग कर लेता है जो प्रायः घटिया किस्म के होते हैं। अब तक अधिकांश किसान स्थानीय (Local) किस्म के बीजों का ही प्रयोग करता रहा है। ये बीज न अच्छी प्रकार से साफ ही किये जाते हैं और न इनका उचित संग्रह ही किया जाता है जिससे इनकी किस्म और घटिया हो जाती है। बीज बोने के समय कृषक के पास अच्छा बीज खरीदने के लिए पैसा नहीं होता और वह साहूकार से घटिया बीज ही उधार पर खरीदने को बाध्य हो जाता है।

पिछले कुछ वर्षों से सुधरे हुए बीजों के वितरण एवं गुणन (Multiplication) के कार्य में कृषि विभाग एवं अन्य राजकीय संगठन कार्य कर रहे हैं। किन्तु बीज देने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होने के कारण अधिकांश कृषक इससे लाभ नहीं उठा सके हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बीज गुणन एवं वितरण का व्यवस्थित कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इस अवधि में 3,600 बीज-गुणन केन्द्र (Seed Multiplication Centres) खोले गये। तृतीय योजना के अन्त तक खाद्यान्नों के उन्नत बीजों का प्रयोग 4·86 करोड़ हेक्टर क्षेत्रफल में होने लगा था। चतुर्थ योजना में यह क्षेत्रफल बढ़कर 9.75 करोड़ हेक्टर हो जाने का लक्ष्य है। इस योजना में चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा तथा मक्का के उन्नत बीजों का प्रयोग बढ़ाया जाएगा।

उन्नत बीजों का प्रयोग बढ़ाने के लिए निम्नांकित उपाय काम में लाये जाने चाहिये—

1. बीज-गुणन केन्द्रों की संख्या में वृद्धि की जाए।

2. उत्तम बीजों के प्रयोग सम्बन्धी जानकारी कृषकों को दी जानी चाहिये।

3. अच्छे बीज रियायती दर पर कृषकों को दिये जाने चाहिए।

4. उत्तम बीजों के प्रदर्शन फार्म (Demonstration Farms) स्थापित किये जाने चाहिए।

5. अच्छे बीजों को संग्रह करने के लिए गोदामों (Godowns) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

6. प्रत्येक विकास खण्ड एवं जिला स्तर पर बीज भण्डार स्थापित किये जाने चाहिए जो फसल पैदा होने तक कृषकों को ये बीज उधार दे सकें।

7. बीजों के श्रेणीकरण (*Gradation*), प्रमापीकरण (*Standardisation*), आदि की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

8. केन्द्रीय स्तर पर गठित "राष्ट्रीय बीज निगम" की भाँति राज्य एवम् जिला स्तर पर ऐसे संगठन स्थापित किये जाने चाहिए।

9. विभिन्न राज्यों में भारतीय कॉटन मिल फेडरेशन द्वारा संचालित कपास विकास योजना (Cotton Development Project) की ही भाँति अन्य निजी संगठनों द्वारा उत्तम बीजों के प्रसार की योजनाएँ चलायी जानी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manures and Fertilizers)—

भारतवर्ष की मिट्टियों में अनेक उर्वरा तत्वों का अभाव हो गया जिसकी पूर्ति खाद व उर्वरकों से की जा सकती है। गोबर की खाद, कम्पोस्ट की खाद, आदि कुछ परम्परागत खादें हैं जिनका विस्तृत

प्रयोग अनेक कारणों से सम्भव नहीं है। इसलिए रासायनिक उर्वरकों (Chemical Fertilizers) का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ हम खाद एवं उर्वरकों की कुछ मुख्य किस्मों एवं उनकी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में विचार करेंगे—

(अ) गोबर की खाद (Cow dung manure or Farm Yard manure)—गाय-भैंसों से प्राप्त होने वाली गोबर की खाद अन्य प्रकार के खादों की तुलना में अत्यधिक नाइट्रोजन रखती है। फसल की पैदावार में वृद्धि के लिए आवश्यक सभी तत्व इसमें मौजूद होते हैं। लगभग पिछले 100 वर्षों में विभिन्न विद्वानों, आयोगों व समितियों ने इसके दुरुपयोग की चर्चा की है। अधिकांश गोबर का प्रयोग घरों में ईंधन के रूप में जलाने के लिए कर लिया जाता है क्योंकि गाँवों में जलाने की लकड़ी की कमी है। योजना आयोग के प्रतिवर्ष जलाये जाने वाले गोबर की मात्रा 400 मिलियन टन मानी है। इसके अतिरिक्त जो गोबर खाद बनाने के लिए काम में लाया जाता है उसका संग्रह करने का तरीका भी दोषपूर्ण है। इसलिए कुल गोबर का लगभग 20 प्रतिशत भाग नष्ट हो जाता है।

गोबर की खाद का पूर्ण सदुपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि (1) गाँवों के नजदीक शीघ्र उगने वाले वृक्ष, ईंधन प्राप्त करने लिए लगाए जाने चाहिये। (2) किसानों को खाद सुरक्षित रखने के लिए गड्ढे (Manure pits) बनाने और पशुओं के व्यर्थ जाने वाले मूत्र व गोबर को संग्रह करने के तरीकों की जानकारी दी जानी चाहिये।

(ब) कम्पोस्ट द्वारा खाद—ग्राम एवं शहरों के कूड़े-कचरे, घास, आदि को सड़ा कर यह खाद तैयार की जाती है। शहर की नालियों के पानी से भी खाद तैयार की जाती है। भारत में इस प्रकार की खाद

का उत्पादन बढ़ रहा है। सन् 1965-66 में सामुदायिक विकास खंडों में 54,13,400 कम्पोस्ट के गड्ढे (Compost pits) खोदे गये। सन् 1968-69 में ग्रामीण कम्पोस्ट खाद का उत्पादन 14.8 करोड़ टन होने का अनुमान है।*

भारत में इस प्रकार के खाद के उत्पादन में अधिक प्रगति नहीं हो पायी क्योंकि उचित प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव है। इसके अतिरिक्त जनता के सहयोग की कमी, किसानों द्वारा इसके प्रति घृणा की भावना, यातायात की कठिनाई आदि कारणों से भी कम्पोस्ट की खाद बनाने के कार्य में अधिक प्रगति नहीं हुई। इन सब बातों को दूर करने के प्रयत्न कर इस खाद के निर्माण को बढ़ाया जाना चाहिये।

(स) रुधिर चूर्ण खाद (Manure from Animal waste)—कसाई खानों में व्यर्थ जाने वाला पशुओं का रुधिर, पशुओं की हड्डियाँ, बाल, आदि का प्रयोग भी खाद के रूप में किया जा सकता है हड्डियों में फॉस्फेट होती है जो मिट्टी की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करती है। मछली के बचे हुए पदार्थों का उपयोग भी खाद बनाने के लिए किया जा सकता है। किन्तु भारतवर्ष में ऐसे खादों को बनाने एवं प्रयोग करने की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। इसके मूल में परम्परागत धार्मिक विचार हैं जिनके कारण वे उर्वरता के इन उपयोगी साधनों का प्रयोग नहीं करते।

(द) हरी खाद (Green manure)—भारत में हरी खाद का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है। यह मिट्टी में नमी बनाए रखने हेतु सर्वोत्तम है। इसमें सन, चना, ज्वार, आदि खेत में बोए जाते हैं और जब पौधे थोड़े बड़े हो जाते हैं तो उन्हें हाँक दिया जाता है। ऐसा करने से मिट्टी में नाइट्रोजन व अन्य तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं जो कृषि पैदावार में भारी वृद्धि कर देते हैं। भारत में इसका अधिक प्रयोग नहीं हो पाता। सन् 1968-69 में हरी खाद का क्षेत्र 1·03 करोड़ हेक्टर हो जाने का अनुमान है।

*India 1969, p. 235

(य) रासायनिक उर्वरक (Chemical Fertilizers)—ऊपर बताये गये विभिन्न खाद भारत की कृषि आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति ही कर पाते हैं। अतः पिछले 15 वर्षों से हमारे यहाँ रासायनिक खाद का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। अब इन उर्वरकों की महत्ता से किसान सुपरिचित हैं। नाइट्रोजन युक्त उर्वरक का उपयोग सन् 1968-69 में 14 लाख टन था जो सन् 1969-70 में बढ़कर 20 लाख टन हो जाएगा। फासफोरस युक्त उर्वरक का उपयोग सन् 1968-69 में 24 लाख टन हुआ।* किन्तु इसकी मांग इस मात्रा से कहीं अधिक है। चौथी योजना में पोटाश का उर्वरक के रूप में प्रयोग भी बढ़ाया जायेगा।

उर्वरकों का उत्पादन मुख्य रूप से सिन्दरी फर्टिलाइजर्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड, नांगल, नेवेली, ट्राम्बे तथा राऊरकेला के कारखानों में होता है। हमारे देश में आवश्यकता से कम उत्पादन होने के कारण उर्वरकों का आयात करना पड़ता है। इनकी कीमत भी अधिक है। इन कृत्रिम उर्वरकों के प्रयोगों के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियाँ अब भी फैली हुई हैं। अतः इनके प्रयोग की सही विधि का ज्ञान कृषकों को कराया जाना चाहिये। उर्वरकों का मौलिक उत्पादन बढ़ाने के हर संभव प्रयत्न किये जाने चाहिये ताकि इनकी कीमतें भी कम हो सकें सरकारी संस्था 'भारतीय खाद निगम' (Fertilizer Corporation of India) के तत्त्वावधान में नये कारखाने बनाये जायेंगे। उर्वरक वितरण जाँच समिति ने उर्वरकों की वितरण व्यवस्था में सुधार लाने के लिए दर में कमी करने व उत्तमता पर ध्यान देने की सिफारिश की है। किसानों को उर्वरक खरीदने के लिये ऋण भी दिये जाने चाहिये।

उपरोक्त खादों के अलावा तिलहन एवम् खली की खाद मानवीय व्यर्थ पदार्थों से निर्मित खाद, आदि भी प्रयोग की जाती है किन्तु इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है।

---

* ... 1969 p. 235

भारत में खाद के अधिकाधिक प्रयोग की आवश्यकता है जिससे कृषि की प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि लाई जा सके। कहा जाता है—'खाद पड़े तो खेत, नहीं तो कूड़ा रेत।'

कृषि उपकरण (Agricultural Implements)

भारत में अब तक भी प्राचीन काल से चले आ रहे यंत्रों एवं उपकरणों का प्रयोग होता है। कृषि के पिछड़ेपन के लिये ये उपकरण भी उत्तरदायी हैं। भारतीय कृषि औजारों की चर्चा करते हुए श्री डार्लिंग (Darling) ने कहा है—"हल भूमि को केवल कुरेद देता है; हाथ की दरांती जो कृषक की अपेक्षा बालक के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है; पुराने ढंग की टोकरी से हवा द्वारा भूसे को अलग किया जाता है और गड़ासा जिसके प्रयोग से बहुत सा चारा नष्ट हो जाता है, आज भी अपने प्राचीन किन्तु अविस्मरणीय कार्यों पर जमे हुए हैं।"

इन सब बातों से कृषि औजारों का पिछड़ापन प्रकट होता है परम्परागत औजारों के स्थान पर सुधरे हुए औजारों को प्रतिष्ठित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। भारतीय कृषि में कृषि को वैज्ञानिक एवम् लाभदायक बनाने की दृष्टि से औजारों में सुधार लाने की आवश्यकता है। कृषक इतना साधनहीन है कि वह स्वयं सभी औजार नहीं खरीद सकता। इसलिए सहकारी समितियों द्वारा सामूहिक रूप से यंत्र प्राप्त कर उन्हें बारी-बारी से काम में लाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। नये औजारों के साथ-साथ कृषि की पद्धति में परिवर्तन लाने आवश्यक हैं। चौथी योजना में जिला स्तर पर कृषि औजार केन्द्र (Agricultural Implements Centre) स्थापित किये जाने की व्यवस्था है। सुधरे हुए औजारों से सम्बन्धित प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जायेगी।

पशु (Animals)—

हमारे देश की अर्थ व्यवस्था के बारे में कहा जाता है कि "भारत बैलगाड़ी युग में रह रहा है।" यह कथन हमारी कृषि के पिछड़ेपन के

बारे में तो बताता ही है साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में बैल का बहुत अधिक महत्व है। बैल के अतिरिक्त घोड़ा ऊँट, बकरी, भेड़, गाय आदि कृषक के लिए बहुत उपयोगी हैं। पशु-पालन व्यवसाय, यातायात, सिंचाई, जुताई, बुवाई आदि में पशु शक्ति का बहुत महत्व है।

भारत में पशुओं की संख्या अत्यधिक है। यहाँ प्रति 40·3 हैक्टर (100 एकड़) जोती-बोई भूमि के पीछे 97 पशु हैं। सन् 1961की पशु गणना के अनुसार देश में कुल पशुओं की
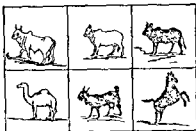
भारत के पशु

संख्या 33.6 करोड़* थी। हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पशुओं का महत्व श्री एम. एल डार्लिंग के शब्दों से स्पष्ट प्रकट होता है—"पशुओं के बिना किसान के खेत नहीं जोते जा सकते, उनके खलिहान खाली पड़े रहते हैं, और खाने पीने में स्वाद अधूरा रह जाता है, क्योंकि शाकाहारी देश में घी, दूध और मक्खन न मिलने से अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है?"

भारतीय पशु दुर्बल एवं अकुशल हैं। इसके मुख्य कारण है—"चारे की कमी, हल्की नस्ल, पशु रखने के दोषपूर्ण ढंग, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, बीमारियाँ तथा पशुओं के स्वास्थ्य की अवहेलना। जथार और बेरी के शब्दों में, "भारत में पशुओं से केवल अधिक काम ही नहीं लिया जाता, इसके साथ-साथ उन्हें भर पेट भोजन भी नहीं दिया जाता। यहाँ तो कदाचित् ही कोई किसान अपने पशु को स्वस्थ

*India 1968 p. 238

रखने का प्रयास करता दिखाई देता है।" किन्तु अब पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा पशु-धन उन्नत करने के कई प्रयत्न हो रहे हैं। चतुर्थ योजना में पशु-पालन के लिए 91● करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।

पशुओं की हीन दशा में सुधार लाने के उपायों में चारे की कमी ो दूर करना, नस्ल सुधार के कार्यक्रमों को अपनाना, पशुओं के रोगों ो रोकथाम करना आदि उल्लेखनीय हैं।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत के कृषि-साधनों को उन्नत ाये जाने की अत्यन्त आवश्यकता है। कृषि साधनों की उन्नति के ाना कृषि विकास सम्भव नहीं है।

सारांश

भारत की कुल जनसंख्या का 69 8 प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर । कृषि हमारी जनसंख्या के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन है। तथा ससे राष्ट्रीय आय में भी बहुत योगदान मिलता है। किन्तु हमारी कृषि त्यन्त पिछड़ी अवस्था में है।

षि के साधनों का महत्व—

विकास की दर संतोषजनक, औसत उत्पत्ति अधिक, उत्पादन लागत म, लाभदायक व्यवसाय, राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण योग।

षि के साधन

(1) उन्नत बीज, (2) खाद एवं उर्वरक—(अ) गोबर की खाद,) कम्पोस्ट द्वारा खाद, (स) रुधिर चूर्ण खाद, (द) हरी खाद,) रासायनिक उर्वरक। (3) कृषि उपकरण, (4) अच्छे पशु।

संक्षेप में, कृषि विकास के लिए उन्नत कृषि-साधनों की वश्यकता है।

●Yojna, April 20, 1969—page 16.

प्रश्न

कृषि साधनों का महत्व स्पष्ट कीजिये ।

भारतीय कृषि को उन्नत बनाने के लिए किन-किन साधनों को उपयोग मे लाना चाहिये ?

भारतीय कृषि की उन्नति के सुझाव दीजिये ।

(राज. बोर्ड, हा. से., 1967)

टिप्पणी लिखिये—

(अ) खाद एवं उर्वरक

(ब) उन्नत बीज ।

अध्याय 5

कृषि के साधन II

AGRICULTURAL INPUTS—II

भारतवर्ष में सिंचाई

(IRRIGATION IN INDIA)

"भारत की मिट्टी के लिए पानी जादू का काम करता है।"

डॉ० वॉयलकर

"सिंचाई सम्बन्धी कार्यों ने जीवन को सुरक्षित बनाया है। इनसे उत्पादन, भूमि के मूल्य एवम् राजस्व की वृद्धि हुई है। इसने दुर्भिक्ष सम्बन्धी व्यय को कम कर दिया है।"

—श्रीमती नॉविल्स

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है कृषि के लिए यह आवश्यक है कि कृषक उत्तम बीज (seeds), खाद (manure) तथा भूमि का अच्छी तरह प्रयोग करें, किन्तु उचित और नियमित रूप से पानी मिले बिना खेती की अच्छी पैदावार नहीं हो सकती। उत्तम पैदावार के लिए पर्याप्त मात्रा में समयानुसार पानी की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में पानी दो प्रकार से प्राप्त होता है—(1) मानसूनी हवाओं द्वारा, जो इस देश में कुछ महीनों में ही चलती हैं, और (2) सिंचाई के साधनों द्वारा। देश की खेती के लिए पानी की कुल आवश्यकता का लगभग 90 प्रतिशत भाग इन्हीं मानसूनी हवाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन्हीं हवाओं द्वारा देश के अधिकांश भागों में वर्षा होती है। पश्चिमी समुद्री तट व बंगाल के पश्चिमी भागों में वर्षा की अधिकता के कारण सिंचाई के साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु देश के

अन्य भागों में वर्षा की मात्रा, समय तथा स्थान अनिश्चित है। यदि इन स्थानों में वर्षा समय पर हो जाती है तो पैदावार भी अच्छी होती है, अन्यथा नहीं।

सिंचाई की आवश्यकता (Need of Irrigation)

सन् 1815 में लार्ड हेस्टिंग्स ने भारत के लिए सिंचाई की योजनाओं की बड़ी आवश्यकता प्रकट की थी। सन् 1850 में लार्ड डलहौजी ने लिखा था, "मैं सर्वत्र देखता हूँ कि इस देश की जमीन में उपजाऊपन विद्यमान है, किन्तु वह बर्बाद पड़ी है। इन मैदानों को बहुमूल्य खेतों में परिवर्तित करने के लिए केवल जल की आवश्यकता है।" ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई के साधनों की उन्नति पर बहुत कम ध्यान दिया।

कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिये जल की प्राप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत ने अपने प्राकृतिक साधनों का अब तक पूरा सदुपयोग नहीं किया है। परिणाम यह है कि करोड़ों व्यक्ति अनेक यातनाओं से ग्रस्त रहते हैं। प्रति वर्ष देश को अकाल (famine) और बाढ़ों (floods) का सामना करना पड़ता है। जो देश आये दिन प्रकृति के प्रकोपों का भाजन बने, वह कैसे पनप सकता है? प्रकृति की इस स्थाई धमकी (Permanent threat) का एक ही उपाय है और वह है नदियों के जल का उपयोग। जल समुद्र में बेकार जाता है या जमीन में नष्ट हो जाता है उसका विशाल बाँधों द्वारा सदुपयोग करना चाहिये। साथ ही जो नदियाँ मार्ग बदलकर दूसरे ग्रामों को डुबोती हैं उनके मार्गों पर नियन्त्रण करना चाहिये।

हमारे देश के लिए सिंचाई की आवश्यकता निम्नांकित कारणों से स्पष्ट है—

1. वर्षा की अनिश्चितता (uncertainty)—हमारे देश में वर्षा असामयिक (untimely) तथा अनिश्चित होती है। कभी अतिवृष्टि तो कभी अनावृष्टि (draught) और प्रायः इनके कारण देश के कई

स्थानों में दुर्भिक्ष पड़ जाते हैं। अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही हानिकारक हैं। किसान की आय का एक मात्र साधन-कृषि-समाप्त हो जाता है।

सिंचाई की आवश्यकता के कारण

1. वर्षा की अनिश्चितता
2. वर्षा का असमान वितरण
3. सर्दी में वर्षा का अभाव
4. कुछ फसलों को अधिक पानी की आवश्यकता
5. अकालों से रक्षा
6 बढ़ती हुई जनसंख्या

2. वर्षा का असमान वितरण (inequitable distribution) भारतवर्ष एक विशाल देश है। यहाँ पर सब जगह वर्षा का वितरण समान नहीं है। कुछ ऐसे स्थान हैं—जैसे बंगाल, असम, हिमालय के दक्षिण ढाल, तटीय मैदान, नर्मदा व ताप्ती की घाटी जहाँ पर वर्षा निश्चित एवं अच्छी मात्रा में होती है। इसके विपरीत ऐसे स्थान भी हैं जैसे, आंध्रप्रदेश मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा तथा दक्षिणी भारत के पठार, जहाँ पर वर्षा अनिश्चित है और कम मात्रा में होती है।

3. सर्दी में वर्षा का अभाव—मद्रास में कुछ जिलों को छोड़कर जाड़े के दिनों में प्रायः वर्षा का अभाव रहता है। अतः जाड़े की फसल के लिये कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई करना नितान्त आवश्यक है। सिंचाई के साधन मिलने पर कृषक भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलें पैदा कर सकेगा। गेहूँ, चना, आदि फसलें जो जाड़े की फसलें हैं, सिंचाई के साधनों के बिना नहीं उगाई जा सकतीं।

4. कुछ फसलों को अधिक पानी की आवश्यकता होती है—गन्ना चावल, पटसन (Jute), आदि फसलों को अत्यधिक पानी की आवश्यकता पड़ती है। दक्षिण-पश्चिम मानसून का पानी हमेशा अनिश्चित ही रहता है। अतः वे फसलें जिनको अधिक पानी की आवश्यकता होती है, कृत्रिम सिंचाई साधनों के बिना नहीं उगाई जा सकतीं।

5. अकालों से रक्षा—सिंचाई के साधन देश में अकाल पड़ने को [illegible] कर हमारी रक्षा करते हैं।

6. बढ़ती हुई जनसंख्या—देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को [illegible]ान्नों और अन्य प्रकार की वस्तुओं की बढ़ती माँग की पूर्ति करने [illegible] लिए भी सिंचाई के साधन आवश्यक हैं।

अतः भारत जैसे विशाल देश की उपजाऊ भूमि का सिंचाई के बिना [illegible] लाभ उठाना असम्भव है। वर्षा पर निर्भरता बहुत हानिकारक है। [illegible]रत में पानी ही सब कुछ है।

[illegible]त में सिंचाई की सुविधाएँ (Irrigation facilities in India)

1. भारत कृषि-प्रधान देश है और यहाँ की 69.8 प्रतिशत [illegible]ता कृषि पर आश्रित है। कृषि की उत्तम पैदावार के लिये सुव्यव-[illegible]त सिंचाई के साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है और इन साधनों [illegible] सुविधायें देश को प्राप्त हैं।

2. सिंचाई के साधनों के लिये हमारे देश में प्रकृति ने बड़ी सहा-[illegible] प्रदान की है। देश की भूमि का अधिकांश भाग ऐसा है जिसमें [illegible] का जल अन्दर चला जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वह जल [illegible]ों द्वारा निकाला जा सकता है। हमारे देश की मिट्टी नरम होने के [illegible]रण कुए खोदने के लिए उपयुक्त है।

3. भारतवर्ष के उत्तरी मैदान में नदियों का जाल सा बिछा [illegible]ा है और साथ ही यह मैदान समतल और ढालू होने के कारण नहरें [illegible]दने के योग्य भी है। भूमि के नरम होने के कारण खोदने में असुविधा [illegible]ीं होती।

4. उत्तरी भारत की प्रायः सभी नदियाँ हिमालय की हिमाच्छा-[illegible]त चोटियों से निकलती हैं, अतः सदैव जल से पूर्ण रहती हैं। गर्मी के [illegible]नों में जब बर्फ पिघलती है तो इनमें पानी निरन्तर बहता है [illegible]र ये सूखने नहीं पाती। नदियों के जलपूर्ण रहने के कारण इनमें

निकाली जाने वाली नहरों को भी पानी मिलता रहता है और इन नहरों का पानी आवश्यकतानुसार सिचाई के लिये उपयोग किया जाता है।

5. देश के विभिन्न भागों में, विशेषकर दक्षिणी भाग में, वर्षा का पानी तालाब बनाकर रोका जा सकता है।

6. देश के कई भागों में कुए बनाने की बहुत सम्भावनाएँ हैं।

सिंचाई से लाभ (Advantages of Irrigation)

भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश में, जहाँ 69.8 प्रतिशत जनता खेती पर निर्भर है. और जहाँ खेती की सफलता का प्रभाव व्यापार, उद्योग वाणिज्य तथा सारे देश के आर्थिक जीवन पर पड़ता है, सिंचाई के साधनों का बड़ा भारी महत्व है। सिंचाई के मुख्य लाभ निम्न हैं—

सिंचाई से लाभ
1. अकाल से बचाव
2. निरन्तर खेती
3. प्रति हैक्टर उपज में वृद्धि
4. विस्तृत खेती सम्भव
5. जनसंख्या का ठीक बंटवारा
6. विशेष फसलों का उत्पादन
7. किसानों की आय में वृद्धि
8. आवागमन के साधनों में वृद्धि
9. सरकार की आय में वृद्धि
10. आंतरिक व विदेशी व्यापार में वृद्धि
11. देश के उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन
12. गहरी खेती-कृषि आय में वृद्धि

1. अकाल से बचाव—सिंचाई अकाल से बचने का अनुपम साधन है। सिंचाई के साधन होने से भारतीय कृषि वर्षा का जुआ नहीं रहेगी।

2. निरन्तर खेती (Continuous cultivation)—सिंचाई से वर्ष भर निरन्तर खेती का व्यवसाय चलता रहता है और कई प्रकार की फसलें उत्पन्न कर खाद्य के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

3. उपज में वृद्धि—सिंचाई साधनों द्वारा आवश्यकतानुसार पानी मिलने से भी भूमि की प्रति हेक्टर उपज में वृद्धि होती है, और साथ ही कुल उपज बढ़ती है।

4. विस्तृत खेती सम्भव (Extensive cultivation)—खेती की भूमि के लिये क्षेत्र में वृद्धि होती है। शुष्क धरती और बंजर (barren) भूमि पानी से खेती के योग्य बन जाती है। इस प्रकार लाखों एकड़ अतिरिक्त भूमि खेती के प्रयोग में आ गई है और खेती का प्रसार हुआ है।

5. जनसंख्या का बटवारा—घनी आबादी वाले भागों से सिंचाई की सुविधाओं वाले नये भागों में मनुष्य जाकर बस जाते हैं, जैसे नहरों के किनारे बस्तियाँ (Canal Colonies) बस गई हैं।

6. विशेष फसलों की उपज सम्भव—सिंचाई से चावल, गन्ना कपास, आदि कीमती फसलें जिनको अधिक व बार-बार पानी की आवश्यकता होती है, पैदा हो सकती हैं। ये फसलें देश के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनसे किसानों की आय बढ़ती है।

7. कृषकों की आय—किसानों की आय, खुशहाली, क्रयशक्ति और रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होती है।

8. आवागमन के साधनों में वृद्धि—कुछ नहरें सिंचाई के अतिरिक्त आवागमन के लिये भी उपयुक्त साधन होती हैं, जिनसे माल एवं यात्री सस्ते किराये पर इधर-उधर पहुँचाये जा सकते हैं।

9. सरकार की आय में वृद्धि—सिंचाई सुविधाओं के फलस्वरूप परती जमीन बिकने से, पानी से, लगान से, रेलों के मुनाफे बढ़ने से, प्रजा की आय और कर देने की शक्ति बढ़ने आदि से सरकार की आय बढ़ती है। साथ ही अकाल पर किये जाने वाले खर्च की बचत होती है क्योंकि अकाल नहीं पड़ते हैं।

10. व्यापार में वृद्धि—उत्पादन बढ़ने से देश के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है।

11 उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन—कच्चा माल अधिक और सस्ता मिलने से तथा वस्तुओं का उपभोग व माँग बढ़ने से उद्योग धन्धे पनपते हैं और देश की उन्नति होती है।

12. गहरी खेती—सिंचाई से गहरी (Intensive) खेती संभव होती है जिससे कृषि उत्पादन और आय बढ़ती है।

हानियाँ (Disadvantages)

1. जल प्लावन (Water logging)—नहरों के बनने से कभी-कभी भूमि में पानी की अधिकता हो जाती है जिससे कुछ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। इनके कारण उपज की मात्रा और किस्म को हानि होती है।

सिंचाई से हानियाँ
1. पानी की अधिकता
2. भूमि क्षार
3. कीचड़, दल-दल, रोग
4 पानी वितरण समस्या
5. जन-धन की हानि

2. भूमि बेकार होना—पानी की अधिकता से कालान्तर में भूमि बेकार हो जाती है। भूमि पर क्षार (salt effervescence) फैल जाता है और पौधे नहीं पनप सकते। पंजाब में इस कारण से हजारों हेक्टर उपजाऊ भूमि खेती के अयोग्य हो गई है।

3. बीमारियाँ—नहरों के आस-पास कीचड़ और दल-दल रहने से मलेरिया व अन्य संक्रामक बीमारियों के कीड़े उत्पन्न होकर बीमारियाँ फैलना बहुधा पाया जाता है।

4. नहरों के पानी की किसानों में वितरण करने की समस्या—बहुत सा पानी बेकार नष्ट होता है और पानी के बंटवारे के लिये किसानों में ईर्ष्या-द्वेष और झगड़े होते हैं।

5. आकस्मिक हानि—कभी कभी नहरें या तालाब टूटने से जन धन की क्षति हो जाती हैं।

सिंचाई के अनगिनत लाभ हैं। सिंचाई की व्यवस्था और साधनों ने भारतीय कृषि को निश्चित, अच्छा और सफल बनाने में बहुत सहायता दी है। भूमि की उपज को बढ़ाकर और उद्योग, व्यापार, वाणिज्य आदि की उन्नति को प्रोत्साहन देकर देश में सम्पन्नता बढ़ाने में सहायता दी है। सिंचाई की हानियों का आसानी से निवारण हो सकता है। सारे देश में सिंचाई के विविध साधनों को खूब बढ़ाना चाहिये, ये देश के हित में है।

सिंचाई के साधन (Means of Irrigation)

देश के विभिन्न भागों में प्राकृतिक भिन्नता के कारण अलग-अलग प्रकार के साधन पाये जाते हैं। मुख्य साधन निम्न हैं—

कृत्रिम सिंचाई के साधन (Means of Irrigation)
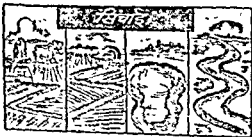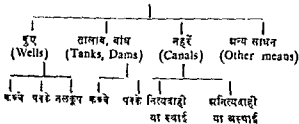
कुएं (wells)—भारतवर्ष के बहुत से भागों में कुओं द्वारा सिंचाई होती है। पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग, बम्बई और बिहार का उत्तरी भाग कुओं द्वारा सिंचाई के लिए प्रसिद्ध हैं। इन कुओं की भूमि में पानी की सतह (water level) ऊँची है और खोदने से

सिंचाई के साधन
1. कुएं (Wells)
2. तालाब (Tanks)
3. नहरें (Canals)
4. अन्य (Others)

गहराई पर पानी मिल जाता है। अतः इस प्रकार की भूमि
एं खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कहीं-कहीं पर 2·44
मीटर (8 या 10 फीट) खोदने पर ही पानी निकल आता
कुओं को बनवाने में कृषकों को अधिक व्यय नहीं करना पड़ता।

रतवर्ष में कुल लगभग 25 लाख कुएं हैं जिन पर लगभग 100
पये की लागत लगी है। भारत में कुल सिंचित भूमि के
भाग पर कुओं से सिंचाई होती है। कुएं प्रायः व्यक्तिगत होते
सरकार भी तकावी (Taccavi) ऋण देकर कुओं के बनाने
ा देती है। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow More
mpaign) के अन्तर्गत हजारों कुएं बनवाये गये। औसतन
2·08 (5 एकड़) भूमि को सींच सकता है और प्रति
टन अनाज अतिरिक्त (additional) उत्पादन होता है।
ं बनवाने के लिए सरकार सहायतार्थ ऋण देती है। सन्
सरकार ने खाद्यान्न बढ़ाने के लिए अमेरिका के विशेषज्ञों
) की राय के अनुसार ट्यूब-वेल्स (tube wells) का निर्माण
या। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रदेश ट्यूब-वेल्स के
लिये उपयुक्त बताये गये हैं। इन कुओं को चलाने के लिये
कमी बिजली की है, जिसको प्राप्त करने के लिये भारत में
जनायें चल रही हैं। सस्ती बिजली से ट्यूब वेल्स निर्माण में
मिलेगा।

ाब (Tanks)—तालाब प्रायः राज्य सरकार के होते हैं।
लगभग 35,000 तालाब हैं और वे सभी आकार के हैं।
ई तालाब अत्यन्त प्राचीन काल के बने हुए हैं तथा कुछ पट
तः इनको साफ करते रहने (desilting) की अत्यन्त आव-
है। मैसूर, मद्रास और राजस्थान के उदयपुर विभाग में तालाब
ई लिये बनाये गये हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन
ी भूमि पथरीली तथा चट्टानों की बनी हुई है और वहां तालाब
से बनाये जा सकते हैं। पिछले कुछ सालों से मद्रास सरकार

ने नये तालाबों के निर्माण और पुरानों की मरम्मत की ओर विशेष ध्यान दिया है। भारत मे सिंचित भूमि के लगभग 20% भाग पर तालाब से सिंचाई होती है।

नहरें (Canals)—नहरों का निर्माण सर्व-प्रथम मुगलों के शासन काल में हुआ। इन नहरों के द्वारा पानी की कमी किसी हद तक दूर हो गई, किन्तु भारत में नहरों, कुओं तथा तालाबों से सिंचाई के लिये वर्षा काल में ही पानी मिल सकता था और गर्मी के दिनों में प्रायः सूखा पड़ जाता था। अंग्रेजों ने भारतवर्ष में इस प्रकार नहरें बनवाई जिनमें वर्ष भर पानी भरा रहता है और किसानों को आवश्यकतानुसार पानी मिल जाता है। सन् 1854 ई० में सबसे पहली नहर गंगा नदी पर बनवाई गई। वर्तमान काल में नहरों द्वारा सिंचाई सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु नहरें सब स्थानों पर नहीं खोदी जा सकती और न उनको सब जगह बनाने से लाभ ही हो सकता है। नहरों को खोदने के लिये निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है।

(1) भूमि समतल तथा ढालू होनी चाहिये। पथरीली तथा ऊबड़ खाबड़ भूमि में नहरों को खोदना कठिन है और व्यय भी अधिक लगता है।

(2) नहरें उन नदियों से निकाली जायं जो सदैव पानी से भरी रहती हों ताकि नहरों को सदा पानी मिलता रहे। बरसाती नहरें गर्मी के दिनों में शुष्क हो जाती हैं और सिंचाई के काम की नहीं रहती।

(3) जिस भूमि में होकर नहर निकाली जाय वह अच्छी होनी चाहिये, वरना नहर खोदने का कोई लाभ न होगा।

भारतवर्ष में तीन प्रकार की नहरें मिलती हैं

1. स्थाई नहरें (Perennial canals)—ये सदैव जल से भरी रहती हैं। नदियों में बांध बांधकर पानी एकत्रित किया जाता है और वह पानी फिर नहरों में बहता है। हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियां ग्रीष्म काल में बर्फ पिघलने के कारण जलपूर्ण रहती हैं और इन नदियों से निकलने वाली नहरों में भी साल भर पानी रहता है।

2. अस्थाई नहरें (Inundation canals)—इन नहरों में केवल ऋतु मे पानी रहता है और वर्ष के शेष महीनों में ये शुष्क रहती सलिए इन्हें बासाती नहरें भी कहते हैं। इनका वर्षा मे ही उपयोग जा सकता है।

3. तालाबी नहरें—(Storage Works Canals)—किसी घाटी या तराई मे बाँध बना कर एक बड़ा तालाब बना दिया जाता है। जमा किया हुआ पानी नहरों द्वारा खेतों तक पहुँचाया जाता है। हरें गोदामी नहरें या तालाबी नहरें कहलाती हैं। इस प्रकार की तः नहरें दक्षिण भारत तथा मध्य प्रदेश में पाई जाती हैं।

त क्षेत्र (Irrigated Area)—

हमारे देश में लगभग 15.49 करोड हेक्टर भूमि कृषि योग्य है— में से लगभग 19 प्रतिशत अर्थात् 2.64 करोड हेक्टर भूमि पर ई होती है। † अनुमान लगाया जाता है कि भारत के जल न लगभग 168 खरब घन मीटर हैं जिनमें से लगभग 5.55 घन मीटर का प्रयोग ही सिंचाई के लिए किया जाता है। ‡
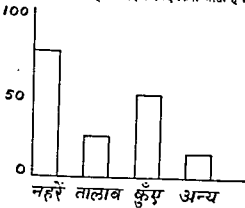
India 1969, p. 225

India 1969, p. 275

भारत में सन् 1965-66 में सिंचाई के विभिन्न साधनों के अनुसार सींची गई भूमि का क्षेत्रफल† इस प्रकार था—

सिंचाई के साधन	कुल सिंचित भूमि का	
	क्षेत्रफल (करोड़ हेक्टर में)	प्रतिशत
नहरें	1·10	41·7
तालाब	0·44	16·6
कुएं	0 84	31·8
अन्य साधन	0·26	9·9
—योग	2.64	100·0

अब कुल सिंचित क्षेत्रफल 2·64 करोड़ हेक्टर है जो सन् 1950-51 की तुलना में 55 लाख हेक्टर अधिक है। ‡ सन् 1950-51 में सिंचित क्षेत्र 2 08 करोड़ हेक्टर तथा सन् 1955-56 में 2.26 करोड़ हेक्टर था।

बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायें—

भारत सिंचाई की दृष्टि से संसार के समस्त देशों से आगे है फिर भी यहाँ सिंचाई के साधनों में वृद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत की नदियों तथा भूमि में बहुत जल निहित है और ऐसा कहा जाता है कि अभी तक हम प्राकृतिक जल भण्डार के 7 प्रतिशत भाग का ही

† India 1969, p. 226
‡ India 1969, p. 226

...ा हो सका है और शेष या ...ुद्र में व्यर्थ चला जाता है ... बाढ़ इत्यादि से जनसंख्या ...श की सम्पत्ति को हानि ...ा है। इस जलराशि को ... और विद्युत उत्पादन मे ... जा सकता है। अतः ...क युग में भारत सरकार ... में ऐसी योजनाएँ चालू ... जिनमें (1) सिंचाई की ...ा होगी, (2) विद्युत शक्ति का उत्पादन होगा जिससे देश के ...धन्धे चलेंगे, (3) बाढ़ पर नियन्त्रण होगा, (4) भूमि के कटाव ... रोका जायगा, जिससे देश की होने वाली धन-जन की क्षति को ...ा सकेगा, (5) एकत्रित जल में मछलियों का पालन किया ... (6) यातायात के साधन बढ़ेंगे और (7) स्वास्थ्यवर्द्धक व ... स्थानों का निर्माण किया जाएगा। उद्देश्यों की इस बहुलता के ... उन्हें बहुधन्धी अथवा बहुउद्देशीय योजनायें कहते हैं। अतः ... योजनाओं से अभिप्राय ऐसी योजनाओं से है जिनके द्वारा अनेक ... की पूर्ति हो सकती है।

बहुउद्देशीय योजनाओं के उद्देश्य
1. सिंचाई
2. विद्युत शक्ति का उत्पादन
3. बाढ़ पर नियन्त्रण
4. भूमि का कटाव रोकना
5. मछली उद्योग को पनपाना
6. यातायात के साधनों में वृद्धि
7. स्वास्थ्यवर्द्धक व रमणीक स्थानों का निर्माण

भारत की कुछ प्रमुख नदी-घाटी योजनायें

(River Valley Projects)

...) दामोदर घाटी योजना—इस घाटी योजना में बिहार व ... बंगाल के क्षेत्र सम्मिलित हैं। योजना के अन्तर्गत तिलैया, ... मादथान और पंचेत नामक चार बाँध बनाये गये हैं। योजना ...स्वरूप लगभग 1·9 लाख हेक्टर (4.7 लाख एकड़) भूमि की ... तथा 1·39 लाख सहस्र किलोवाट बिजली का उत्पादन ...ोगा।

2. भाखरा-नांगल योजना—यह भारत की सबसे विशाल बहुउद्देशीय योजना है। इस योजना के अन्तर्गत सतलज नदी पर 222 3 मीटर ऊँचा बाँध, नांगल बाँध, दो बिजली घर, हाइडल चेनल और उस पर दो बिजली घर, नहरों द्वारा सिंचाई की योजना आदि पर कुल 175·6 करोड़ रुपया खर्च होगा जिससे पंजाब तथा राजस्थान को प्रतिस्थापित क्षमता की 6,04,000 किलोवाट विद्युत प्राप्त होगी। केवल दाहिने विद्युतगृह के अतिरिक्त योजना का लगभग सभी कार्य पूरा हो चुका है।

3. हीराकुण्ड योजना—उड़ीसा में महानदी पर बनाए गए इस
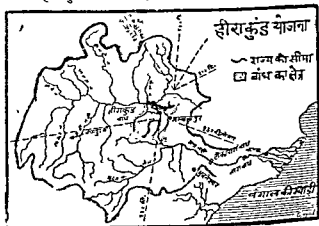
बाँध की अनुमानित लागत 70·78 करोड़ रुपये हैं। यह विश्व का सबसे लम्बा मुख्य बाँध है और इसके विद्युत-गृह ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। 1,23,000 किलोवाट की प्रतिस्थापित क्षमता वाले विद्युत गृह ने रूरकेला इस्पात कारखाना, अल्यूमिनियम फैक्ट्री हीराकुण्ड, सीमेंट फैक्ट्री राजगंगपुर, पेपर मिल बृजराजनगर तथा अन्य अनेक उद्योगों को विद्युत देना प्रारम्भ कर दिया है। बिजली की बढ़ती हुई माँग को

पूरा करने के लिए योजना का दूसरा चरण प्रारम्भ किया गया है जिससे चिपलिमा स्थान पर विद्युत निर्माण कार्य किया जाएगा। इस योजना के दूसरे चरण की लागत 14·32 करोड़ रुपए होगी।

(4) तुंगभद्रा योजना—आंध्र और मैसूर राज्यों की इस संयुक्त योजना की लागत 60 करोड़ रुपए आंकी जाती है। इस योजना के अन्तर्गत तुंगभद्रा नदी पर एक बांध बनाया गया है और 99,000 किलोवाट विद्युत शक्ति पैदा करने वाले तीन विद्युत-गृह बनकर तैयार हो चुके हैं।

(5) रिहन्द बांध योजना—उत्तर प्रदेश की रिहन्द नदी पर एक बांध बनाया गया है जो उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बिहार को भी सिंचाई की सुविधा प्रदान करता है। 3 लाख किलोवाट प्रतिस्थापित क्षमता वाले विद्युत-गृह का निर्माण किया गया है यह योजना अल्यूमिनियम व अन्य छोटे-बड़े उद्योगों को बिजली प्रदान करती है। जल-विद्युत का प्रयोग कृषि और सिंचाई के विकास के लिए भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी एवं दक्षिणी भागों में किया जायगा। इस योजना की अनुमानित लागत 46·5 करोड़ रुपये है।

(6) कोयना योजना—महाराष्ट्र में देशमुख वाड़ी नामक स्थान पर 42·7 करोड़ की लागत का एक बांध बनाया जा रहा है जो विद्युत इकाइयों के द्वारा 2·4 लाख किलोवाट विद्युत का निर्माण करेगा। इसमें से 2 3 लाख किलोवाट बिजली बम्बई व पूना को दी जाएगी। शेष निकटवर्ती भागों में पहुँचाई जाएगी।

पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई—
(Irrigation under the Five Year Plans)

कृत्रिम साधनों से सिंचाई करना भारत की एक प्राचीन विशेषता है। प्राचीन समय में कई नहरें और तालाब बनाए गए थे। समय समय पर विभिन्न आयोग, कमेटियां भी सिंचाई के विकास की योजनाएं प्रस्तुत करती रहीं। सन् 1919 के सुधारों के अन्तर्गत सिंचाई एक

प्रान्तीय विषय बन गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई व्यवस्था को विकसित करने के कार्यक्रम तैयार किए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में केवल 203·5 लाख हैक्टर (515 लाख एकड़) भूमि पर सिंचाई होती थी। इस योजना के अन्त तक सिंचित भूमि का क्षेत्रफल बढ़कर 226 लाख हैक्टर हो गया। इस योजना काल में सिंचाई के विकास पर 380 करोड़* रुपया खर्च हुआ। इस योजना काल मे सिंचाई की छोटी-बड़ी 170 योजनाएं (projects) प्रारम्भ की गई।

द्वितीय योजना काल मे सिंचाई की बड़ी व मध्यम योजनाओं † पर 370 करोड़ रुपये खर्च किए गए। छोटी सिंचाई योजनाएं (Minor irrigation schemes) इस क्षेत्र से बाहर हैं। ये छोटी योजनाएं सामुदायिक विकास (Community Development) कार्यक्रम का ही एक अंग है। इस अवधि में सिंचाई की छोटी बड़ी 195 योजनाएं प्रारम्भ की गईं। इस योजनाकाल में 55.5 लाख हैक्टर भूमि की अधिक सिंचाई होने लगी। कई नदी घाटी योजनाओं एवं सिंचाई की अन्य योजनाओं पर कार्य पूरा हो गया।‡

तृतीय योजना काल में सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण, आदि कार्यक्रमों पर 661 करोड़ रुपये खर्च किये जाने का लक्ष्य रखा गया था। योजना काल में 95 नई माध्यम योजनाओं पर कार्य प्रारम्भ किया गया। इस योजना काल में सिंचाई शक्ति (Irrigation potential) का सम्पूर्ण

---

* Third Five Year Plan—Final Draft, p. 382

† जिन सिंचाई योजनाओं की लागत 5 करोड़ रुपये या अधिक होती है, वे बड़ी योजना (Major), तथा दस लाख रुपये और पांच करोड़ रुपये के बीच की योजनाएं मध्यम योजनाएं (Medium Schemes) कहलाती हैं।

‡ भारत की मुख्य नदी घाटी योजनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से हम पूर्व की पुस्तक में पढ़ चुके हैं।

उपयोग किए जाने की व्यवस्था थी। इस प्रकार कुल सिंचित क्षेत्र बढ़ कर 362 लाख हैक्टर हो जाने का लक्ष्य था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सिंचाई तथा बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रमों पर 963.8 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था रखी गई है।*

राजस्थान में सिंचाई (Irrigation in Rajasthan)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय नियवाही केवल एक नहर—गंगनहर (बीकानेर में) थी जिसके द्वारा प्रतिवर्ष 6 लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी। राजस्थान के उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में वर्षा का औसत 10 सेंटीमीटर से 40 सेन्टीमीटर है। इसलिए यहाँ सिंचाई का बहुत महत्व है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में राज्य मे सिंचाई के विकास हेतु 754 लाख रुपये खर्च किये गये। इस योजना में 96 मध्यम परियोजनाओं पर कार्य पूरा कर लिया गया।

द्वितीय योजना में सिंचाई विकास पर 1972 लाख रुपये खर्च किये गये और राज्य में सिंचित भूमि का क्षेत्र 413·8 हजार एकड़ भूमि** हो गया जबकि 1955-56 में केवल 56 हजार एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी।

तृतीय योजना की समाप्ति तक छोटी सिंचाई योजनाओं से 170 लाख एकड़ भूमि में सिंचाई हुई। चतुर्थ योजना काल में सिंचाई विभाग ने राज्य में 3 करोड़ रुपये की लागत के कार्य करने का प्रस्ताव किया है।

---

* Aspect of the Fourth Five Year Plan, Plan in outline, p. 5

** प्रगतिशील राजस्थान : सिंचाई, फरवरी 1966, जन सम्पर्क निदेशालय, राजस्थान; पृ॰ 8

राजस्थान की मुख्य योजनाएं

चम्बल घाटी योजना—इस योजना के अनुसार विद्युत उत्पादन केन्द्रों सहित तीन बांधों और एक पाले (सिंचाई बांध) का निर्माण किया जा रहा है। साथ में आवश्यक नहरों का निर्माण हो रहा है। राजस्थान-मध्य प्रदेश सीमा पर चम्बल नदी पर गांधी सागर बांध बनाया गया है जो कोटा से दक्षिण में 64·25 कि० मी० (40 मील) दूर है। दूसरा बांध "राणा प्रताप सागर बांध" प्रथम बांध से 32.2 कि० मी० (20 मील) नीचे राजस्थान के एक ग्राम रावत भट्टा के समीप बनाया जा रहा है। तीसरा बांध "कोटा बांध" कोटा से लगभग 16·1 कि० मी० (10 मील) दूर है। इनके अतिरिक्त कोटा नगर से 9·65 कि०मी० (6 मील) की दूरी पर "कोटा बैरेज" बनाया गया है, जिससे दो नहरें निकाली गई हैं। योजना के फलस्वरूप 4 43 लाख हैक्टर (11 लाख एकड़) भूमि की सिंचाई होगी और 2 लाख सहस्र किलोवाट बिजली का उत्पादन सम्भव होगा जिससे कोटा, लाखेरी, जयपुर, अजमेर आदि क्षेत्रों को लाभ पहुँचेगा। योजना पूर्ण होने पर लगभग 4·825 लाख मी० टन अतिरिक्त अन्न उत्पन्न होगा और कृषि का रूप ही बदल जायगा। योजना के प्रथम चरण पर लगभग 63·59 करोड़ तथा द्वितीय चरण पर 17·21 करोड़ रुपये व्यय होने हैं।

जवाई योजना—राजस्थान में एरिनपुरा रेलवे स्टेशन के पास जवाई नदी पर यह बांध बनाया गया है। यह सन् 1956 में तैयार हो गया था। इससे लगभग 24180 हैक्टर (60 सहस्र एकड़) भूमि की सिंचाई होगी और (20 हजार टन) अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पन्न होगा।

राजस्थान नहर परियोजना—हरीके (Harike Barrage) से जो सतलज नदी पर बनाया गया है, एक नहर, जिस पर लगभग 66·47 करोड़ रुपये व्यय होंगे, निकालने की परियोजना जुलाई, 1957 में स्वीकृत की गई थी। इस परियोजना को दो भागों में विभक्त किया गया है—(1) मुख्य नहर 215 कि. मी. (134 मील) लम्बी होगी जिसमे से 178 कि. मी. (110·8 मील) पंजाब क्षेत्र मे होगी (Rajasthan Feeder) और (2) निचली नहर जो 467 कि. मी. (291 मील) लम्बी होगी और राजस्थान के क्षेत्र में होगी इसे राजस्थान नहर कहते हैं। इसे मुख्य नहर से पानी मिलेगा। सन् 1968-69 तक सम्पूर्ण राजस्थान

फीडर और राजस्थान नहर का 196 कि. मी. (122 मील) लम्बा भाग तैयार हो जाने की आशा है। परियोजना का शेष भाग सन् 1977-78 तक पूरा होगा। सूरतगढ़ शाखा और रावतसर डिस्ट्रीब्यूटरी बन कर तैयार हो गई है।

प्रारम्भ में इस नहर को रावी और व्यास नदियों से पानी दिया जावेगा। बाद में इन दोनों नदियों पर बनाये जाने वाले बांधो से पानी की कमी को पूरा करने के लिए पानी दिया जायेगा। प्रारम्भ मे इससे

बीकानेर, जैसलमेर तथा श्री गंगानगर के जिलों की 10·5 लाख हैक्टर (26·20 लाख एकड़) भूमि में सिंचाई होगी जिससे 5·8 मी० टन (5.7 लाख टन) खाद्यान्न उत्पन्न होगा जिसका मूल्य करीब 156 करोड़ रुपये होगा। राजस्थान नहर बोर्ड की देख-रेख में यह कार्य चल रहा है। राजस्थान नहर प्रदेश की सबसे बड़ी सिंचाई योजना है। सन् 1966 तक इस योजना के फलस्वरूप 86500 हैक्टर (2·15 लाख एकड़) भूमि की सिंचाई प्रारम्भ हो गई। राजस्थान नहर पक्की खुदाई की होगी तथा इसकी कुल लम्बाई 683 कि० मी० (425 मील) के लगभग होगी। आगामी 20 वर्षों में योजना के पूरे होने के फलस्वरूप लगभग 3 हजार नए गाँव बस जायेंगे तथा 27·4 लाख मी० टन (27 लाख टन) अतिरिक्त अन्न पैदा होगा। प्रत्यक्ष रूप में लगभग 25899 वर्ग कि० मी० (10 हजार वर्ग मील) का क्षेत्र इस योजना से प्रभावित होगा।

सारांश

सिंचाई का महत्व—भारतीय कृषि वर्षा का जुआ मानी जाती है। अनिश्चितता से बचने के लिए सिंचाई को विशेष महत्व देना आवश्यक है। भारत में सिंचाई की आवश्यकता के मुख्य कारणों में—वर्षा की अनिश्चितता, वर्षा का असमान वितरण, सर्दी में वर्षा का अभाव आदि उल्लेखनीय है।

सिंचाई से लाभ (1) अकाल से बचाव (2) निरन्तर खेती (3) प्रति हैक्टर उपज में वृद्धि, (4) विस्तृत खेती सम्भव, (5) जनसंख्या का ठीक बंटवारा, (6) विशेष फसलों का उत्पादन, (7) किसानों की आय मे वृद्धि, (8) आवागमन के साधनों में वृद्धि, (9) सरकार की आय में वृद्धि (10) व्यापार में वृद्धि, (11) उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन तथा (12) गहरी खेती।

सिंचाई से हानियाँ—(1) पानी की अधिकता (water logging),

(2) भूमि का बेकार हो जाना, (3) रोगों की प्रबलता, (4) जल वितरण समस्या तथा (5) जन-धन की हानि।

सिंचाई के साधन—(1) कुएं—पूर्वी पंजाब, उ० प्र० के पूर्वी भाग, बिहार के उत्तरी भाग तथा अन्य राज्यों में कुओं से सिंचाई की जाती है। (2) तालाब—मुख्यतः मद्रास, मैसूर, आंध्र प्रदेश और राजस्थान (उदयपुर डिवीजन) में पाये जाते हैं। (3) नहरें—उत्तर प्रदेश, पंजाब व मध्य प्रदेश में पाई जाती हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई—प्रथम योजना काल में सिंचाई के विकास पर 380 करोड़ रुपया खर्च हुआ। योजना काल में सिंचाई का क्षेत्र 209 लाख हैक्टर (1950-51) से बढ़कर सन् 1964-65 में 263 लाख हैक्टर हो गया।

द्वितीय योजना काल में सिंचाई व मध्यम योजनाओं पर 370 करोड़ रुपये खर्च किए गए। तृतीय योजना में सिंचाई के विकास के लिए 661 करोड़ रुपये की व्यवस्था थी। चतुर्थ योजना में सिंचाई व बाढ़ नियन्त्रण कार्यक्रमों के लिए 963 8 करोड़ रुपये रखे गये हैं।

प्रश्न

1. भारतीय कृषि में सिंचाई का क्या महत्व है? भारत के भिन्न-भिन्न भागों में सिंचाई के कौन-कौन से साधन प्रयोग किये जाते हैं?

   इनका तुलनात्मक महत्व भी बताइए।

   (राज. बोर्ड, इन्टर, 1952 तथा म. प्र. बोर्ड, हा. से., 1961)

2. भारत की भिन्न-भिन्न सिंचाई व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए और नहरों की सिंचाई से होने वाले लाभ-हानियों का विवेचन कीजिए।

   (अजमेर बोर्ड, इन्टर, 1962 तथा सागर वि. वि., 1952)

3. "बहुउद्देशीय योजनाओं" से आप क्या समझते हैं ? किन्हीं दो योजनाओं के बारे में विस्तार से लिखिए।

   (राज बोर्ड, इन्टर, 1960 तथा हा. से., 1960 व 1962)

4. निम्न पर टिप्पणियां लिखिए—

   (अ) राजस्थान नहर (राज. बोर्ड, हा. से., 1967), (आ) भाखरा नांगल, (इ) चम्बल योजना, (ई) दामोदर घाटी योजना तथा (उ) पचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई, (ऊ) नल-कूप (राज. बोर्ड, हा. से., 1969)

5. भारतीय कृषि के लिए सिंचाई का महत्व समझाइये। भारत में सिंचाई के विभिन्न साधनों का वर्णन कीजिए।

   (राज. बोर्ड, हा. से., 1966)

अध्याय 6

कृषि के साधन III

AGRICULTURAL INPUTS-III

भारत में ग्रामीण वित्त

(RURAL FINANCE IN INDIA

"भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में रहता है और ऋण ही मरता है।"*

—शाही कृषि आयोग

"ऋण ग्रस्तता ही कृषि की असफलता का कारण है।"

—वुल्फ

प्रत्येक व्यवसाय को चलाने के लिए वित्त की आवश्यकता होती कृषि व्यवसाय के लिए भी साख (Credit) के सस्ते एवम् सुलभ नों का बहुत महत्व है। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में कृषि साख की स्था सन्तोषजनक नहीं है। गाँवों मे रहने वाले कारीगरों को भी संबंधी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारतीय ग्रामीण या वित्त का अधिकांश भाग कृषि से संबंधित है।

साख की आवश्यकता (Need of Agricultural Credit)

कृषक को खेती के लिए साख की जो आवश्यकता होती है उसे तीन में बाँटा जाता है--

*"Indian Farmer is born in debt, lives in debt and dies in debt"—Royal Commission on Agriculture.

1. अल्पकालीन साख (Short term credit)—

इसकी आवश्यकता कृषक के दिनप्रति दिन के कार्यों के लिए होती है। खाद, बीज, आदि साधनों की प्राप्ति के लिए आवश्यक इस साख की अवधि लगभग 9 मास से 15 मास तक होती है।

2. मध्यकालीन साख (Medium-term Credit) —

इस साख की आवश्यकता सामान्यतः कृषि के लिए पशु व यंत्र खरीदने, कुआ, बाड़ (Fence) तथा मकान बनाने एवं भूमि पर सुधार करने के लिए होती है। कृषक द्वारा सामाजिक कार्यों के लिए भी जो ऋण लिए जाते हैं वे इसी श्रेणी में आते हैं। इस साख की अवधि सामान्यतः डेढ़ से पाँच वर्ष तक की होती है।

3. दीर्घकालीन साख (Long-term credit)—

लम्बी अवधि के साख की आवश्यकता भूमि खरीदने, पुराने ऋण का भुगतान करने, भूमि में स्थायी सुधार करने आदि के लिए होती है। किसान धीरे-धीरे इन ऋणों का भुगतान करता है। यह ऋण प्रायः पाँच वर्ष से बीस वर्ष तक की अवधि का होता है।

कृषि कार्यों के अतिरिक्त भी कृषक को ऋण की आवश्यकता होती है। विवाह, धार्मिक उत्सव, आदि कार्यों के लिए जो ऋण लिए जाते हैं वे अनुत्पादक (unproductive) होते हैं। किसान ऐसे ऋणों पर अधिक ब्याज देता है।

ग्रामीण साख के साधन (Agencies of Rural credit)

ग्रामीण साख प्रदान करने के साधनों में साहूकार (Money lender) का स्थान मुख्य है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने (All India Rural Credit survey committee) सन् 1951-52 में अपने प्रतिवेदन (Report) में बताया कि भारतीय ग्रामीण साख के विभिन्न स्रोत एवम् उनके द्वारा प्रबंधित राशि का प्रतिशत निम्न प्रकार है—

स्रोत	साख पूर्ति का प्रतिशत
1. पेशेवर साहूकार	44 8
2. किसान साहूकार	24·9
3. रिश्तेदार तथा मित्र	14·2
4. सरकार	3·3
5. सहकारी संस्थाएं	3 1
6. व्यापारिक बैंक	0·9
7. अन्य साधन	8 8
योग	100·0

उपयुक्त तालिका से पता लगता है कि सर्वेक्षण के समय ग्रामीण साख की पूर्ति का मुख्य स्रोत साहूकार था। साहूकारों की कार्य-पद्धति में दोष होते हुए भी किसान उन्हीं से अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु अब स्थिति में परिवर्तन आ रहा है। साहूकारों का स्थान धीरे-धीरे सहकारी संस्थाएं ले रही हैं। सन् 1968 69 में सहकारी संस्थाओं के द्वारा कृषकों को 559 करोड़ रुपये का ऋण दिया

गाँव का साहूकार

गया। इस राशि में 450 करोड़ रुपये मध्य एवं अल्पकालीन तथा 100 करोड़ रुपये का दीर्घकालीन ऋण सम्मिलित है। अब हम साख के विभिन्न साधनों का अलग अलग अध्ययन करेंगे—

(1) साहूकार (Money Lender)—ग्रामीण साख का लगभग 70 प्रतिशत भाग साहूकारों (पेशेवर और किसान) से प्राप्त होता है। महाजन ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। महाजन उत्पादक और अनुत्पादक सभी कार्यों के लिए ऋण देता है। उसकी कार्य पद्धति सरल होती है, और किसान को किसी भी समय जमानत (security) न होने पर भी ऋण मिल जाता है। साहूकार ऋण से सीधा सम्बन्ध रखता है और स्थानीय परिस्थितियों से परिचित होने के कारण वह प्रत्येक ऋणी की आर्थिक स्थिति को जानता है। इन कार्मों के कारण ही साहूकार ग्रामीण साख का सर्वोपरि साधन है। साहूकारों की कार्य पद्धति में कई दोष पाए जाते हैं, जैसे (क) ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है। (ख) ब्याज की अग्रिम (advance) वसूली करता है। (ग) हिसाब किताब में गड़बड़ी करके किसानों को ठगता है। (घ) ऋणी पर अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके उसकी फसल कम दामों पर खरीद लेता है। (ङ) किसानों से तरह-तरह की भेंट लेता है और उन्हें अपने दासों की भांति समझता है।

सरकार द्वारा साहूकारों की दूषित कार्य पद्धति पर रोक लगाई जा रही है। लगभग सभी राज्यों में साहूकारों के लाइसेन्स लेने, हिसाब-किताब रखने, ब्याज की दर निर्धारण करने और गैर कानूनी कार्यों पर रोक लगाने के लिए अधिनियम पास किए जा चुके हैं। गांव में साहूकार का एकाधिकार होने के कारण किसान अब भी अपनी साख सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए उन्हीं के पास जाता है।

(2) रिश्तेदार एवं मित्र (Relatives and friends)—ग्रामीण साख की दूसरी महत्वपूर्ण एजेंसी रिश्तेदार और मित्र हैं। इनकी कार्य प्रणाली का कोई कानूनी रूप नहीं है। इनमें साधारणतया कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती और ब्याज भी नहीं लिया जाता। भारत सरकार द्वारा

किए गए सर्वेक्षणों से पता लगता है कि पहले की तुलना में अब इस साधन का महत्व कम होता जा रहा है।

(3) सरकार (Government)—सरकार भूमि सुधार अधिनियम तथा कृषक ऋण अधिनियम के अन्तर्गत किसानो को तकावी (Taccavi) ऋण देती है। सरकारी ऋणों की मात्रा बहुत कम तो होती ही है, साथ ही इन्हें मिलने में बहुत समय लग जाता है इन ऋणो की कानूनी पद्धति (procedure) भी जटिल होती है इसलिये ये ऋण ग्रामीण साख मे बहुत अधिक महत्व नही रखते।
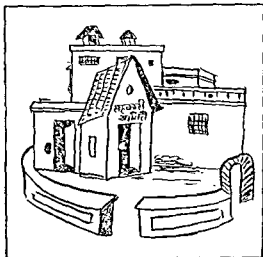
सहकारी समिति

(4) सहकारी संस्थाएं (Co-operative Institutions)—यद्यपि सहकारी संस्थाओं का प्रारम्भ भारत मे सन् 1904 में हो चुका था फिर भी इन समितियो द्वारा ग्रामीण साख का थोड़ा सा भाग ही प्रदान

किया जाता है। इतना ही नहीं अधिकांश सहकारी संस्थाएं किसानों को अल्पकालीन ऋण ही देती हैं इसलिए बाध्य होकर किसान को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण के लिए साहूकार के पास जाना पड़ता है। किन्तु धीरे धीरे स्थिति में परिवर्तन हो रहा है और ग्रामीण साख के क्षेत्र मे सहकारी संस्थाओं का महत्व बढ़ता जा रहा है। सहकारी समितियों का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया जाएगा।

(5) *व्यापारिक बैंक* (Commercial Banks)—*हमारे देश में* व्यापारिक बैंक ग्रामीण साख प्रदान करने का कार्य नहीं के बराबर करते हैं, क्योंकि इनकी शाखाएं शहरों और कस्बों मे स्थित हैं। वैसे ये बैंक साहूकारों, व्यापारियों, आदि को ऋण देकर परोक्ष में ग्रामीण साख में योग देते हैं तथापि किसानों को साख प्रदान करने मे ये नगण्य हैं। व्यापारिक बैंकों पर *सामाजिक नियन्त्रण* (Social control) स्थापित होने के पश्चात् उनके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी जमाओं का एक निश्चित भाग कृषकों को अग्रिम देने हेतु निर्धारित कर दें।

(6) *अन्य साधन—जमींदार, व्यापारी एवं अन्य साधनों द्वारा* प्रदान किए जाने वाले ऋणों को इस समूह में सम्मिलित किया गया है। अब जमींदार का महत्व कम होता जा रहा है। व्यापारी फसल खरीदने के लिए ही रुपया अग्रिम (advance) देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत मे ग्रामीण वित्त की एक उचित और *सुव्यवस्थित साख प्रणाली का अभाव है। ग्रामीण साख सुविधाओं* के विस्तार के लिए सहकारिता का विकास करना होगा। व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण साख में योग देना चाहिए। महाजनो का प्रभुत्व कम करने के लिए कृषि के सभी कार्यों मे सहकारिता की उन्नति की जानी चाहिए।

ग्रामीण ऋण ग्रस्तता (RURAL INDEBTEDNESS)

"भारतीय किसान ऋण में जन्म लेते हैं, ऋण में जीवन व्यतीत करते हैं और ऋण मे ही मर जाते हैं।" भारत में यह कहावत सदा-सर्वदा के

लिए सत्य सी बन गई है। किसान स्वयं ऋण में डूबा हुआ रहता ही है किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी भी ऋण मे डूबे रहते हैं।

ऋण-ग्रस्तता किसान को अकर्मण्य व उदासीन बनाती है और नैतिक दृष्टि से गिराती है। ऋणी को अपने जीवन मे कोई आनन्द नजर नहीं आता।

ऋण ग्रस्तता के कारण (Causes of Indebtedness)

अब प्रश्न यह है कि भारत में ग्रामीण ऋण इतना क्यो है? इसके अनेक कारण हैं:—

ऋण-ग्रस्तता के कारण
1. किसान की निर्धनता
2. किसान का अज्ञान व फिजूल खर्ची
3. पुश्तैनी ऋण
4. साहूकार की दूषित पद्धति
5. खेती की पैदावार में कमी
6. भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा होना
7. भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ना
8. प्राकृतिक परिस्थितियाँ
9. दुर्बल पशुधन
10. अधिक लगान
11. कृषक की अस्वस्थता
12. ब्याज की ऊँची दर

1. किसान की निर्धनता—भारतीय किसान बहुत गरीब है और उसकी आय भी कम है। इसलिए फसल खराब हो जाने की स्थिति मे दूसरे साधनों से ऋण लेना होता है क्योंकि उसकी बचत-क्षमता नही के बराबर है।

2. अनार्थिक, सामाजिक व धार्मिक कार्य—किसान अशिक्षित होता है और वह सामाजिक व धार्मिक कृत्यो पर रुपया पानी की तरह बहाता है। किसान की स्वयं की आय बहुत कम होती है इसलिए उसे इन कार्यों के लिए ऋण लेना पड़ता है।

3. पैतृक ऋण—(Ancestral debt)—एक पिता की मृत्यु के बाद साधारण उत्तराधिकारियों को ऋण ही वसीयत (inheritance) में मिलता है। किसान अपने पूर्वजों का ऋण चुकाने के लिए ऋण लेते हैं। इस प्रकार वे अत्यधिक ऋण-ग्रस्तता के भवर मे फस जाते हैं।

4. साहूकार की दूषित पद्धति—ग्रामीण साख के क्षेत्र में साहूकार के एकाधिकार होने के कारण किसान को ऋण के लिये उसी पर निर्भर रहना पड़ता है। साहूकार अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग कर किसानों को मन माने ढंग से ठगता है, सूद की दर बहुत अधिक वसूल करने के अतिरिक्त ऋणी किसान की फसल कम दामों पर खरीदने का पहला अधिकार उसी का होता है, जिससे किसान अपने उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर सकता। परिणाम स्वरूप उसके ऋण भार में और भी वृद्धि हो जाती है।

5. खेती की पैदावार में कमी—भारतीय कृषि बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में है, और प्रति एकड़ पैदावार बहुत कम है। ऐसी स्थिति में किसान कृषि आय से अपना भरण-पोषण नहीं कर सकता है और बाध्य होकर उसे ऋण लेना पड़ता है।

6. भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटा होना—खेती का उप-विभाजन व अपखंडन कृषि को अलाभदायक बनाता है और किसान को अपने प्रतिदिन के कार्यों के लिए भी ऋण लेना पड़ता है।

7. भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ना—भारत में जनसंख्या बहुत तीव्र-गति से बढ़ रही है और दूसरे धन्धों के अभाव में उनका अधिकांश भाग भूमि पर ही निर्भर रहता है। आवश्यकता से अधिक मनुष्यों के भूमि पर आश्रित होने से कृषि से प्राप्त होने वाली आय कम हो जाती है और परिवार का भरण-पोषण करने के लिए कृषकों को ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

8. प्राकृतिक परिस्थितियाँ—भारतीय कृषि प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यह ठीक ही कहा जाता है कि भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, हिमपात, आँधी, आदि कई प्राकृतिक कारणों से फसल नष्ट हो जाती है और किसानों को अन्न भी उधार लेकर खाना पड़ता है।

9. दुर्बल पशु—भारत में पशुधन कमजोर है और अधिकांश

किसानों पर भार स्वरूप हैं। पशुओं में बीमारी फैलने पर बहुत अधिक संख्या में पशु मर जाते हैं और नए पशु खरीदने के लिए किसान को ऋण लेना पड़ता है।

10. अधिक लगान—भूमि के लगान की दर ऊँची हैं। जिस वर्ष फसल नष्ट हो जाती है उस वर्ष तो किसान के लिए लगान चुकाना और भी कठिन हो जाता है और मजबूर होकर उसे साहूकार की शरण लेनी पड़ती है।

11. कृषक की अस्वस्थता—किसानों का जीवन-स्तर बहुत नीचा होने के कारण वे दुर्बल होते हैं और अनेक बीमारियों के शिकार होते रहते हैं, जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। ऐसी दशा में उनकी आय और कम हो जाती है और विवश होकर उन्हें ऋण लेना पड़ता है।

12. ब्याज की ऊँची दर—ग्रामीण साख के साधनों में साहूकार का स्थान प्रमुख है। वह किसानों की लाचारी का अनुचित लाभ उठा कर ब्याज की बहुत ऊँची दर वसूल करता है जो ऋण-ग्रस्तता में वृद्धि करती है। इतना ही नहीं सरकारी संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की ब्याज दर भी अधिक होती है।

ऋण-ग्रस्तता के प्रभाव—

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के कारण देश में अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। सदियों से ऋण भार में दबे रहने के कारण किसान का दृष्टिकोण निराशावादी (pessimistic) बन गया है। ऋण-ग्रस्तता के निम्न प्रमुख दोष हैं—

1. कृषक की कार्यक्षमता में कमी—ऋण-ग्रस्त किसान सदैव चिन्ताओं से घिरा रहता है। ऋण में डूबे रहने के कारण उसका उत्साह कम हो जाता है। परिणामस्वरूप उसकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है और वह अपने परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर सकता।

2. कृषक को अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलत साहूकारों से रुपया उधार लेने की महत्वपूर्ण शर्त यह भी होती है ऋणी अपनी फसल उन्हीं के हाथ बेचेगा। परिणाम यह होता है साहूकार किसान की पैदावार को बाजार भाव से कम कीमत पर ख लेते हैं और किसान को अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता

3. किसान का भूमि पर अधिकार से वंचित होना—बहुधा कि अपनी भूमि की जमानत पर ऋण लेता है और जब वह ऋण को स पर भुगतान नहीं कर पाता तो विवश होकर उसे अपनी भूमि बेच पड़ती है। अतः कृषक भूमि-है श्रमिक हो जाता है।

ऋण-ग्रस्तता के परिणाम
1. कृषक की कार्यक्षमता में कमी
2. कृषक को फसल का उचित मूल्य नहीं मिलना
3. किसान का भूमि पर अधिकार नहीं रहता
4. किसान का नैतिक पतन
5. किसान का शोषण

4. किसान का नैतिक पतन ऋण-ग्रस्त रहने के कारण किसा को साहूकार का दास बनक रहना पड़ता है और उसका नैतिव पतन हो जाता है।

5. किसान का शोषण—(exploitation)—ऋण-ग्रस्तता के कारण किसान का विभिन्न प्रकार से शोषण होता है। जिससे गरीब किसान और अधिक गरीब हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋण-ग्रस्तता ने किसान को निराशावादी, निर्धन, भूमि-हीन और दुर्बल बना दिया है। अतः इस समस्या को शीघ्रातिशीघ्र दूर करना अति आवश्यक है।

समस्या का हल एवं प्रगति—

ऋण-ग्रस्तता की समस्या के हल पर पिछली शताब्दी में विचार प्रारम्भ हुआ, किन्तु समस्या का व्यवहारिक हल प्राप्त करने के व्यवस्थित

प्रयत्न स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही किये गए । यहाँ हम ऋण-ग्रस्तता को दूर करने के उपायों और उनकी प्रगति के बारे मे विचार करेंगे ।

1. ऋणों को कम करना—ऋण-ग्रस्तता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि पुराने ऋणों मे कुछ कटौती की जाय । इन कटौतियों के लिए समझौता कमेटियां (Conciliation Boards) बना दी जाएँ अनेक राज्यों मे पुराने ऋणो में अनिवार्य रूप से कटौती करने में कुछ कानून बन चुके हैं और कई जगह समझौता परिषदें कायम हो चुकी हैं ।

2. साहूकारों की दूषित कार्य पद्धति पर रोक—कृषि साख के क्षेत्र मे साहूकार ही मुख्य स्रोत है । इनके एकाधिकार से अनेक बुराइयाँ पनप गई हैं । इसलिये सरकार को साहूकार पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिये । हिसाब-किताब की जाँच पडताल, लाइसेंस पद्धति आदि को प्रभावशाली बनाकर किसानों की रक्षा की जानी चाहिये । सन् 1930 के पश्चात् महाजनों की दूषित कार्य पद्धति को रोकने के लिए विभिन्न राज्यों में कानून पारित कर दिए गए हैं । इन कानूनो के अन्तर्गत महाजनों के लिए लाइसेंस लेना हिसाब-किताब रखना और जाँच करवाना, ऋणी को समय-समय पर मूलधन व ब्याज की सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया है । कई राज्यों मे इनके द्वारा दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दर भी निर्धारित कर दी गई है । इन कानूनों का सख्ती से पालन करवाना चाहिये ।

3. भूमि के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध—कई राज्यों में ऐसे कानून बन गये है जिनके अनुसार साहूकार किसान की भूमि पर कब्जा नहीं कर सकता । परन्तु उनका प्रभावशाली उपयोग नहीं किया है । सन् 1910 का पंजाब भूमि हस्तांतरण नियम इस दिशा में पहला प्रयास था ।

4. कृषि-साख व्यवस्था का विकास—वर्तमान कृषि साख में आमूलचूल परिवर्तन करके साख के नवीन ढाँचे का विकास आवश्यक है । पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिए अधिकाधिक भूमि विकास

बैंक† (Land Development Banks) खोले जाने चाहिये । इस स
देश में भूमि विकास बैंकों की संख्या 726 (केन्द्रीय और प्राथमिक
मिला कर)* है । अल्पकालीन व मध्यकालीन साख के लिए सुदृढ़
कारी समितियों का तीव्र गति से विस्तार आवश्यक है । अभी सहक
समितियों का कार्य सचालन कुशल नहीं है । किसानों को साख, बि
व उत्पादन आदि कार्यों में सहकारी संस्थाओं की सेवाएं उपलब्ध करा
चाहिये जिससे वे साहूकारों के चंगुल से निकल सकें । किसानों को भू
सुधार एवं अधिक उत्पादन के लिए सरकारी 'तकावी' ऋण भी सुगम
से और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराने चाहिये । देश के बैंकों को
ग्रामीण साख में भाग लेना चाहिये । प्रसन्नता की बात है कि रिज
बैंक तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया इस ओर महत्वपूर्ण प्रयास कर र
हैं । व्यापारिक बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण स्थापित होने के पश्चा
इन बैंकों ने कृषि साख के क्षेत्र में बहुत सहयोग दिया है ।

ऋण ग्रस्तता को दूर करने के उपाय
1. ऋणों को कम करना
2. साहूकारों की दूषित पद्धति पर रोक
3. भूमि के हस्तांतरण पर रोक
4. कृषि साख व्यवस्था का विकास
5. कृषकों की आय में वृद्धि
6. फिजूल खर्चों पर रोक

5. कृषकों की आय में वृ
ऋण-ग्रस्तता की समस्या को दू
करने के लिए यह नितांत आवश
यक है कि किसानों की आर्थि
स्थिति सुधारी जाय । इस सम्बन्ध
में यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि
सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के
अन्तर्गत कृषि की उन्नति के विभिन्न
कार्यक्रम चला रही है जिससे कृषि
की हालत अवश्य सुधरेगी ।

6. फिजूल खर्चों पर रोक— इन सभी सुधारों के साथ-साथ यह
भी आवश्यक है कि गाँव वालों में मितव्ययता की भावना का संचार
किया जाये । किसान अनेक धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर रुपया

† पिछले तीन वर्षों से भूमि बन्धक बैंक का नाम बदल कर भूमि
विकास बैंक कर दिया गया है ।
* India 1969—p. 271

उधार लेकर पानी की तरह बहाना है। अनाधिक व्यय को रोकना बहुत आवश्यक है। ग्राम पंचायतें, जीवन सुधार-सहकारी समितियाँ, शिक्षा का प्रसार और फिजूल खर्ची के विरुद्ध प्रचार, इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकने में समर्थ होंगे।

कुछ समय से सरकार ने उपर्युक्त क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। कृषि उपज वृद्धि, साख-व्यवस्था सुधार तथा सहकारिता आन्दोलन की तीव्र गति पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

रिजर्व बैंक, जो देश का केन्द्रीय बैंक है, ग्रामीण वित्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हिस्सा ले रहा है। रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) कृषि वित्त समस्याओं का

अध्ययन करने, राज्य सरकारों एवं बैंकिंग संस्थाओं को ग्रामीण साख प्रदान करने के क्षेत्र में सहायता करने एवं अपने एजेन्ट 'स्टेट बैंक' के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में साख प्रदान करने का काम करता है।

ग्रामीण वित्त की सुविधाओं के लिए सहकारी संस्थाओं का विस्तार, साहूकारों की कार्य प्रणाली में सुधार, अशिक्षा का निवारण, राज्य सरकारों, बैंकिंग संस्थाओं एवं अन्य एजेन्सियों द्वारा सहयोग किया जाना चाहिये।

सारांश

कृषि के लिए तीन प्रकार की साख की आवश्यकता होती है—(1) अल्पकालीन, (2) मध्यकालीन, तथा (3) दीर्घकालीन।

ग्रामीण साख के साधन

साहूकार 69.7% रिश्तेदार आदि 14.2%, सरकार 3.3%, सहकारी समितियाँ 3.1%, व्यापारिक बैंक 0.9 तथा अन्य 8.8%। इन साधनों में साहूकार ग्रामीण साख व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। किन्तु उसकी कार्य पद्धति में कई दोष हैं। इन दोषों को दूर किया *जाना जरूरी है। अब सहकारी संस्थाओं का महत्व बढ़ता जा रहा है।*

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता—भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में ही रहता है और ऋण में ही मरता है—ऋण-ग्रस्तता का *अनुमान ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार 283 रु० प्रति परिवार है।*

कारण—(1) किसान की निर्धनता, (2) अज्ञानता और फिजूल खर्ची, (3) पुश्तैनी ऋण, (4) साहूकार की दूषित पद्धति, (5) खेती की पैदावार में कमी, *(6) भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटा होना, (7) जनसंख्या का भार बढ़ना, (8) प्राकृतिक परिस्थितियाँ, (9) दुर्बल* पशु, (10) अधिक लगान, (11) कृषक की अस्वस्थता, (12) ब्याज की ऊंची दर।

ऋण-ग्रस्तता के परिणाम—(1) कृषक की कार्यक्षमता में कमी, (2) कृषक को अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलना, (3) किसान का भूमि पर अधिकार नहीं रहता (4) किसान का शोषण ।

समस्या का उपचार—(1) ऋणों को कम करना, (2) साहूकारों की दूषित कार्य पद्धति पर रोक (3) भूमि के हस्तांतरण पर प्रतिबंध, (4) कृषि साख व्यवस्था का विकास, (5) कृषकों की आय में वृद्धि, तथा (6) फिजूल खर्ची पर रोक

सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत इस समस्या को हल करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किए जा रहे हैं ।

प्रश्न

1. ग्रामीण साख किसे कहते हैं इसके कौन-कौन से साधन हैं ।
2. ऋण-ग्रस्तता से आप क्या समझते हैं ? कारण सहित स्पष्ट कीजिये तथा परिणाम भी बताइये ?
3. ऋण ग्रस्तता को दूर करने के उपाय बताइये । भारत सरकार इसके लिए क्या कदम उठा रही है ?
4. भारत मे ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के कारणों का वर्णन कीजिये ।
(राज. बोर्ड, हा. से., 1966 तथा 67)

अध्याय 7

भारतीय कृषि की पद्धति

"भारतीय कृषक अनेक बातों में उतना ही अच्छा है जितना कि ब्रिटिश किसान और कुछ बातों में तो यह उससे भी श्रेष्ठ है। यदि उसकी कुछ बुराइयां हैं तो वे कृषि पद्धति में सुधार की सुविधाओं के अभाव के कारण हैं।" —डॉ वॉयलकर

कृषि हमारी अर्थ व्यवस्था का आधार है। यह हमारे जीने का तरीका (way of life) भी माना जाता है। किन्तु जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है कृषि अभी एक अलाभदायक व्यवसाय के रूप में चलाया जा रहा है। विदेशों से भारी मात्रा में अन्न का आयात, कृषि पर आश्रित जनसंख्या की तुलना में कृषि से प्राप्त राष्ट्रीय आय का भाग कम होना तथा अन्य देशों की तुलना में यहाँ की प्रति एकड़ औसत पैदावार का कम होना इसके पिछड़ेपन के प्रमाण हैं। कृषि के पिछड़ेपन के कारणों को पाँच भागों में बांटा जा सकता है—

1. *कृषि के ढांचे से सम्बन्धित—इसमें भूमि अधिकार की प्रणाली* आती है।

2. संगठन सम्बन्धी—इसमें कृषि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े, उचित संगठन का अभाव, आदि बातें आती हैं।

3. कृषक से सम्बन्धित कारण—इसमें कृषक की अशिक्षा, अज्ञानता रूढ़िवादिता, भाग्यवादिता आदि कारण सम्मिलित किये जाते हैं।

4. कृषि के साधनों से सम्बन्धित—इसमें कृषि उपज के लिए आवश्यक साधनों का पिछड़ापन आ जाता है। ये साधन हैं—बीज, खाद, पशु, सिंचाई, वित्त, औजार आदि।

5. कृषि की पद्धति से सम्बन्धित कारण—इस वर्ग में कृषि की परम्परागत शैली एवं पद्धति से सम्बन्धित दोषों का समावेश होता है।

उक्त दोषों के प्रथम चार वर्गों के बारे में हम पिछले अध्यायों में पढ़ चुके हैं। इस अध्याय में हम कृषि पद्धति से सम्बन्धित बातों का अध्ययन करेंगे।

उन्नत कृषि पद्धति का महत्व—

किसी भी देश की कृषि-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए उसकी पद्धति में आमूल चूल परिवर्तन करने पड़ते हैं। अविकसित कृषि पद्धति कृषि विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। उन्नत कृषि पद्धति से प्राप्त होने वाले लाभ निम्नांकित हैं—

1. कृषि उत्पादन की वृद्धि में उन्नत कृषि पद्धति बहुत सहायक होती है।

2. किस्म सुधार की दृष्टि से भी उन्नतशील कृषि पद्धति का बहुत महत्व है। कृषि पैदावार बढ़ने के साथ वस्तु की उत्तमता में सुधार की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

3. उन्नतशील कृषि पद्धति के द्वारा उत्पत्ति लागत (Cost of production) में कमी लाकर कृषक व उपभोक्ता दोनों को पहुँचाया जा सकता है।

4. उन्नत कृषि पद्धति सदैव कृषक का समय व श्रम बचाती है जिसका उपयोग अन्य आर्थिक व सामाजिक कार्यों में किया जा सकता है।

5. उन्नत कृषि पद्धति के अन्तर्गत देश में उपलब्ध सभी प्राकृतिक साधनों—मिट्टियों, जलवायु तथा सिंचाई के साधनों का सदुपयोग सम्भव होता है।

6. कृषि पद्धति में उपयोग आने वाली दोहरी फसल प्रणाली, फसल चक्र आदि प्रणालियों के द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति में होने वाली क्षति को पूरा किया जा सकता है।

उन्नति कृषि पद्धति के लाभ

1. उत्पादन की मात्रा में वृद्धि
2. उत्पादन की उन्नत किस्म
3. उत्पादन व्यय में कमी
4. समय व श्रम की बचत
5. प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग
6. भूमि की उर्वरा शक्ति का कम ह्रास
7. रोजगार में वृद्धि
8. कृषकों की आय में वृद्धि
9. उद्योग धन्धों को उत्तम व पर्याप्त सामग्री
10. विदेशों पर से कृषि सामग्री की निर्भरता में कमी

7. रोजगार में वृद्धि प्रदान करने का बहुत बड़ा काम भी उन्नत कृषि की प्रणाली कर देती है। सघन खेती योजना एवम् अन्य कार्यों में अधिकाधिक लोगों को रोजगार दिया जा सकता है।

8. उन्नत कृषि प्रणाली के प्रयोग से कृषक कम लागत में ही अधिक कृषि पदार्थों का उत्पादन करने लग जाता है। परिणाम-स्वरूप कृषकों की आय में वृद्धि होती है जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए किया जा सकता है।

9. उन्नत कृषि पद्धति अपनाकर देश में उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक उत्तम किस्म का कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में तैयार किया जा सकता है।

10. उन्नत कृषि पद्धति से ही देश में आवश्यकता के अनुसार कृषि पदार्थ तैयार किये जा सकते हैं। इससे विदेशों पर आयातों एवं अन्य कृषि सामग्री के सम्बन्ध में निर्भरता कम हो जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उचित कृषि पद्धति अपनाकर देश के बहुमुखी विकास में योग दिया जा सकता है।

भारतीय कृषि पद्धति—

प्राचीनकाल में भारतीय जीवन व्यवस्था सरल होने के कारण कृषि की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई। गाँवों में कृषि कार्य स्थानीय

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही किया जाता था। गाँव एक स्वावलम्बी इकाई के रूप में था और जो कुछ उत्पादन होता था उसका उपभोग वहीं कर लिया जाता था। इस सबके लिए परम्परागत कृषि पद्धति ही ठीक थी। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ मानव की आवश्यकताएं बढ़ती गईं। भारत में भी गाँवों का पृथक्कीकरण (Isolation) समाप्त हुआ और कृषि में व्यापारीकरण (Commercialisation) की प्रवृत्ति का उदय हुआ। विशिष्टीकरण (Specialisation) के इस युग में उत्पादन पद्धतियों में आमूल-चूल परिवर्तन लाये बिना उत्पादन क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम रखना कठिन हो गया। भारत में इस शताब्दी के मध्य तक कृषि की प्राचीन पद्धति का ही बोल-बाला था
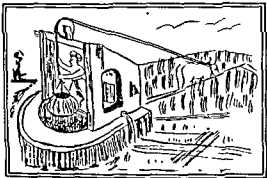
कुँऐ से सिंचाई

और यहाँ का कृषि व्यवसाय अत्यन्त घाटे (Loss) का धन्धा बन कर रह गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाये गए। कृषि के विकास की दृष्टि से ये परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण हैं।

भारतीय कृषि पद्धति की नवीन प्रवृत्तियां—

मारत की कृषि पद्धति की कतिपय उल्लेखनीय प्रवृत्तियां निम्नांकित हैं—

1. विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)—भूमि एक ऐसा प्राकृतिक साधन है जिसमें मानव प्रयत्नों से वृद्धि नहीं की जा सकती। किन्तु कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि की जा सकती है। ऐसा करना तभी सम्भव है जब देश की बेकार पड़ी हुई भूमि को वैज्ञानिक साधनों की सहायता से कृषि योग्य बनाया जा सके। इस प्रकार से कृषि भूमि के क्षेत्र में वृद्धि करने के प्रयत्नों को हम विस्तृत खेती कहते हैं। इससे भूमि पर आश्रित जनसंख्या को अधिक रोजगार व बढ़ी हुई आमदनी प्राप्त होती है।

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विस्तृत खेती के अनेक प्रयास किये गये। बीहड़ जंगलों को साफ करके, रेगिस्तान में सिंचाई की व्यवस्था करके तथा नये कृषि भूखण्डों का पता लगाकर खेती करने के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। उड़ीसा की दण्डकारण्य योजना, तराई की खादर योजना व राजस्थान में उत्तरी नहरों द्वारा सिंचाई की योजनाएं विस्तृत खेती की कतिपय महत्वपूर्ण योजनाएं हैं। भारत में 1950-51 में जहां 13·15 करोड़ हैक्टर भूमि पर खेती की जाती थी वहां 1965-66 में यह क्षेत्रफल 15·49 हैक्टर हो गया।*

अब भारतवर्ष में विस्तृत खेती को अधिक व्यापक क्षेत्र में लागू करना सम्भव नहीं है क्योंकि एक ओर तो जंगलों को साफ करना अन्य आर्थिक दृष्टियों से लाभदायक नहीं है और दूसरी ओर अब अधिक भूमि उपलब्ध ही नहीं है। इसलिए कृषि विकास की दृष्टि से विस्तृत खेती पद्धति का सहारा लेना अब अधिक लाभदायक नहीं होगा।

2. यांत्रिक खेती (Mechanised Farming)—भारतीय कृषि के साधनों के पिछड़ेपन का अध्ययन करते समय हमने यहाँ के परम्परागत

* India 1969—P. 225

कृषि उपकरणों की अयोग्यता के सम्बन्ध मे विचार किया था। कृषि विकास मे उन्नत यंत्रों एवं उनके द्वारा की जाने वाली यांत्रिक खेती का महत्वपूर्ण स्थान है।

यांत्रिक कृषि का तात्पर्य यह है कि पशुओ एवं मनुष्यो द्वारा किये जाने वाले कुछ कार्य यंत्रों की सहायता से किए जाए। यह यांत्रिक कृषि पूर्ण अथवा आंशिक हो सकती है। पश्चिमी देशों में मानवीय श्रम के अभाव में पूर्ण यांत्रिक खेती की दिशा मे प्रयास हो रहे हैं। यांत्रिक कृषि में ऐसे यन्त्रो का प्रयोग किया जाता है जो छोटे छोटे कार्य कर सकें और कृषि के लिए सुविधायें प्रदान कर सकें। कुछ यंत्र हैं—ट्रैक्टर जिनका प्रयोग परम्परागत हलों के स्थान पर किया जाता है; कम्बाइन्ड ड्रिल (Combined Drill) जिसकी मदद से खाद व बीज एक साथ डाले जा सकें, हारवेस्टर जो फसल की कटाई में सहायक है, कपास चुनने का यन्त्र, आलू निकालने का यन्त्र, गन्ना पेरने का आधुनिक यन्त्र, बिजली की मोटर, डीजल व तेल से चलने वाले पम्पिंग सेट आदि।

भारतवर्ष में यांत्रिक कृषि के पक्ष एवं विपक्ष मे अनेक तर्क दिए जाते हैं। यांत्रिक खेती के पक्ष में दलीलें दी जाती है कि इससे (1) कृषि

उत्पादन में वृद्धि (2) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि (3) लागत व्यय में कमी (4) सिंचाई की व्यवस्था में सुधार (5) व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन (6) सामाजिक अवस्था में सुधार (7) दीर्घकाल में अधिक रोजगार, आदि लाभ प्राप्त होंगे। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि यांत्रिक खेती से भारतीय अर्थ व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न हो जाने का भय है। ये संभावित कठिनाइयाँ हैं—(1) कृषकों में बेरोजगारी, (2) भारत में कृषि जोत का छोटा होना, (3) कृषकों का निर्धन होना, (4) यंत्रों को चलाने के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की कमी, (5) शक्ति के साधनों का अभाव (6) जनसख्या के बढ़ते हुए आकार को काम देना सम्भव नहीं (7) भारत में यंत्रों का अभाव आदि।

उपरोक्त दलीलों को देखने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त रूप में कृषि का यंत्रीकरण लाभदायक है किन्तु हमारी अर्थ-व्यवस्था की कुछ कठिनाइयों को देखते हुए इसे अभी कुछ सीमित क्षेत्रों में ही लागू किया जाना चाहिये। यंत्रों का उद्देश्य मानव की प्रस्थापना करना नहीं वरन् कृषक की सहायता करना है। सरकारी कृषि एवम् सार्वजनिक क्षेत्र में कृषि फार्म यांत्रिक कृषि के उपयुक्त क्षेत्र हैं।

भारतवर्ष में पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान यांत्रिक कृषि के अनेक प्रयत्न किये गये। देश में चार बड़े यंत्रीकृत फार्म जम्मू कश्मीर, भोपाल (मध्य प्रदेश), सूरतगढ़ व जेतसर (दोनों राजस्थान) में हैं। देश में विश्व बैंक की सहायता से एक 'केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन' की स्थापना की गई है। भारतीय कृषकों ने अनेक यंत्रों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। सन् 1961 की गणना के अनुसार भारत में उन्नत इस्पात के हलों (Ploughs) की संख्या 5,83,72 हजार थी। शक्ति से चलने वाले गन्ना पेरने के यंत्र 33,000 तेल तथा बिजली से चलने वाले सिंचाई के पम्प क्रमशः 2·30 लाख तथा 1·60 लाख एवं कृषि के कार्यों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले ट्रैक्टरों की संख्या 31 हजार थी।

सामान्य कृषक की विपन्नता एवम् कृषि जोतों का उचित आकार न होने के कारण यान्त्रीकरण के मार्ग मे कठिनाइयाँ हैं। इसलिए अभी सहकारी एवम् सरकारी क्षेत्र के बड़े फार्मों को छोड़कर कृषि के क्षेत्र में आंशिक यांत्रिक कृषि को लागू करना ही उचित होगा।

3. फसलों का हेर फेर (Crop Rotation)—

कृषि भूमि पर निरन्तर फसलें उगाते रहने से मिट्टी मे थकावट की समस्या उत्पन्न हो जाती है। मिट्टी की उर्वराशक्ति मे इस कमी के परिणामस्वरूप कृषि पैदावार मे ह्रास होने लगता है। इस कमी को दूर करने की एक परम्परागत पद्धति है—फसलो का हेरफेर या फसल चक्र (Rotation of crops)। हमारे किसान सदियो से इस पद्धति को जानते हैं और आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग भी करते हैं। इस पद्धति के अंतर्गत एक ही भूमि पर अनेक फसलें बारी-बारी से बोई जाती हैं। ऐसा करने से एक फसल मे होने वाले उर्वराशक्ति के ह्रास की दूसरी फसल से क्षतिपूर्ति करली जाती है। उदाहरण के लिए खाद्यान्नों के निरन्तर बोते रहने की अपेक्षा यदि बीच मे दालें बोई जाती रहें तो खाद्यान्नों की प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि हो जाती है।

फसल चक्र से मिट्टी की उर्वरता बढ़ने के साथ-साथ मिट्टी का कटाव रुकता है। इस हेर फेर से फसलों की कीटाणुओं व रोगों से भी बचत होती है। भारत मे यह पद्धति बहुत अनुकूल है।

(4) मिश्रित फसलें (Mixed Cropping)—

भूमि की उर्वराशक्ति मे होने वाली कमी की क्षति पूर्ति के लिए मिश्रित फसलों की पद्धति का भी अनुसरण किया जाता है। इस फसल मिश्रत पद्धति में एक ही साथ दो या अधिक फसलें बोई जाती हैं। खरीफ में बाजरा, मूँग, मोठ, ज्वार, अरहर, उरद, मक्का आदि तथा रबी में गेहूँ, चना, जौ, ज्वार आदि फसलो का एक साथ बोया जाना फसल मिश्रण के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार दोहरी या अनेक फसल

पौध संरक्षण कार्यक्रमों में विदेशी मुद्रा की कठिनाई को दूर करने, प्रशिक्षण की व्यवस्था करने व स्थानीय संगठनों का सहयोग लेने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(6) सघन कृषि कार्यक्रम (Intensive Agricultural Programme)—

भारत में विस्तृत खेती की सम्भावनाएं बहुत कम हैं। अतएव कृषि पैदावार में वृद्धि के सघन कृषि कार्यक्रमों की अनिवार्यतः अनुभव की जाने लगी है। सघन कृषि में सिंचाई के उन्नत साधन, उन्नत बीज व खाद उन्नत कृषि उपकरण, साख की सुविधा आदि साधनों का मार्गदर्शन प्रयोग करके कृषि पैदावार में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है।

भारतवर्ष में सघन कृषि के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों से प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् 1961-62 में जिला सघन कृषि कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme तथा (IADP) का आरम्भ किया गया। सन् 1964-65 में सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme) की शुरुआत की गई। इस समय देश के 15 जिलों में यह कार्यक्रम चल रहा है।*

कृषि पद्धति की वर्तमान प्रवृत्तियों में कृषि अनुसंधान, भू-संरक्षण, आदि को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिससे कृषि विकास में बहुत सहायता मिलती है। भारतीय कृषि पद्धति में अब भी काफी प्रयत्न करने की सम्भावना है।

सारांश

कृषि हमारे जीने का तरीका (Way of life) भी माना जाता है।

कृषि के पिछड़ेपन के कारण—

(1) कृषि दांव से सम्बन्धित। (2) सगठन से सम्बन्धित (अ) भूमि के छोटे छोटे टुकड़े, (ब) उचित सगठन का अभाव (3) कृषक से

*India 1969, p. 236

संबंधित (अ) कृषक की अशिक्षा, (ब) अज्ञानता, (स) रूढ़िवादिता, (द) भाग्यवादिता (4) कृषि के साधनों से संबंधित—(अ) बीज, (ब) खाद, (स) पशु, (द) सिंचाई, (य) वित्त, (र) औजार। (इ) कृषि पद्धति से संबंधित।

उन्नत कृषि पद्धति के लाभ—

(1) उत्पादन मात्रा में वृद्धि, (2) उत्पादन की उन्नत किस्म, (3) उत्पादन श्रम में कमी, (4) समय व श्रम की बचत, (5) प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग, (6) भूमि की उर्वराशक्ति का कम ह्रास, (7) रोजगार में वृद्धि, (8) कृषकों की आय में वृद्धि, (9) उद्योग धन्धों को उत्तम व पर्याप्त सामग्री, तथा (10) विदेशों पर से कृषि सामग्री की निर्भरता में कमी।

भारतीय कृषि पद्धति की नवीन प्रवृत्तियाँ—

(1) विस्तृत खेती—भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात इसके अनेक प्रयास किये गये किन्तु अब कृषि विकास की दृष्टि से यह पद्धति अधिक लाभदायक नहीं है।

(2) यांत्रिक खेती—इसमें ऐसे यंत्रों का प्रयोग किया जाता है जो छोटे 2 कार्य कर सकें व कृषि के विकास के लिये सुविधायें प्रदान कर सकें। भारत में चार बड़े यंत्रीकृत फार्म हैं।

(3) फसलों का हेरफेर—भारत में यह पद्धति बहुत अनुकूल है।

(4) मिश्रित फसलें—इससे मिट्टी की उर्वरता बनी रहती है। यह पद्धति कृषि की उन्नति के लिये लाभदायक है।

(5) पौध संरक्षण—भारत में फसलों को रोगों, कीड़ों आदि से लगभग 600 करोड़ रु० की हानि होती है। इस दिशा में "पौध संरक्षण, संगरोध, तथा भंडार निर्देशालय" के निर्देशन में पौध संरक्षण कार्य किए जा रहे हैं।

(6) सघन कृषि कार्यक्रम—सन् 1961-62 में "जिला सघन कृषि कार्यक्रम" (IADP) को प्रारम्भ किया गया। सन् 1964-65 में 'सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' (IADP) की शुरुआत की गई। देश के 15 जिलों में यह कार्यक्रम चल रहा है।

प्रश्न

1. भारत में कृषि के पिछड़ेपन के क्या-क्या कारण हैं ?
2. उन्नत कृषि पद्धति का महत्त्व स्पष्ट कीजिये।
3. भारतीय कृषि पद्धति को समझाते हुये उसकी नवीन पद्धतियों का वर्णन कीजिये।

——

अध्याय 8

सामुदायिक विकास

COMMUNITY DEVELOPMENT

"समस्त भारत में मानव क्रियाओं के ये (सामुदायिक विक सण्ड) केन्द्र ऐसे ज्योति स्तम्भ (Lamp Posts) हैं जो घने अंधकार प्रकाश फैला रहे हैं। यह प्रकाश उस समय तक फैलता रहेगा जब त कि भारत भूमि आलोकित न हो उठे।" —श्री जवाहरलाल नेह

भारत में सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय सेवाओं का प्रारम अमेरिका की प्रेरणा से हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ग्रामीण प्रगति के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति' (Grow Mor Food Enquiry Committee) की सिफारिशों पर, सामुदायिक विकास योजनाओं का आरम्भ हुआ।

अर्थ—

'सामुदायिक' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कम्युनिटी (Community) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका अर्थ किसी विशेष 'बस्ती अथवा समाज' से है। सामुदायिक विकास से हमारा आशय किसी गाँव या नगर के विकास की सामूहिक योजना से है। 'इण्डिया' 1967 के अनुसार "सामुदायिक विकास आत्म-सहायता का वह कार्यक्रम है जिसे ग्रामवासी स्वयं नियोजित करें और स्वयं ही क्रियान्वित करें तथा जिसमें राज्य की ओर से वित्तीय तथा तकनीकी सहायता मिले।"*

*"It is a programme of aided self to be planned and implemented by the villagers themselves, the Government offering only technical guidance financial assistance."

योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार "सामुदायिक विकास वह पद्धति है जिसे ग्रामीण विस्तार एजेन्सी द्वारा ग्रामवासियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को पूर्ण रूप से सुधारने की प्रक्रिया पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ करना चाहती हैं।

इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनायें वे कार्यक्रम हैं जिनके द्वारा जन सहयोग (Public Co-operation) के आधार पर ग्रामों में दरिद्रता व अज्ञानता को दूर करना है।

सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं में भेद—

सामान्यतः इन दोनों का अर्थ ग्राम या कृषि विकास के सदर्भ में ही प्रयुक्त किया जाता है। फिर भी इन दोनों में कुछ भिन्नता है—

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का क्षेत्र राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रमों की अपेक्षा बड़ा होता है।

2. सामुदायिक विकास योजना एक पद्धति है किन्तु राष्ट्रीय विस्तार सेवाएं एक साधन है।

3. सामुदायिक विकास योजना सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन के व्यापक विकास पर जोर देती है जबकि राष्ट्रीय विस्तार योजना केवल कृषि विकास कार्यक्रमों से ही सम्बन्धित होती है।

4. सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं की अपेक्षा अधिक व्यय होता है।

सन् 1958 में बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों पर इनका अन्तर समाप्त कर दिया गया।

इन योजनाओं का महत्व (Importance)

ग्रामीण विकास के लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रगतिवान आन्दोलन है। इसके अन्तर्गत सामाजिक न्याय के साथ-साथ उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किए जाते हैं जिससे एक प्रगतिशील ग्रामीण समाज तथा विकासोन्मुख ग्राम व्यवस्था का विकास हो सके। इस आन्दोलन

से गरीबी व अमीरी के भेद को दूर करने के प्रयत्न किए ज
जिससे हमारे गांवों में रहने वाले वास्तविक स्वतन्त्रता के प्रभ
अनुभव कर सकें। ग्रामों के बहुमुखी विकास के महान उद्देश्यों को
ये योजनायें चलायी जा रही है। श्री एस. के. डे के अनुसार
दायिक विकास योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपाल
चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना
जंगल के समान नहीं है जिसमें मुक्त व्यापार की तरह वृ
वनस्पतियाँ भी हैं।"

इन कार्यक्रमों से ग्रामीण क्षेत्र की जनता को विकास के लिए
मिलती है, कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है, यातायात, पशु
सहकारिता, सिंचाई योजनाएँ आदि का विस्तार होता है तथा
महत्वपूर्ण उपलब्धि जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की है।

योजनाओं के अन्तर्गत आने वाले कार्यक्रम—

ये योजनाएँ अपनी सहायता आप करो (Help your self
कार्यक्रम हैं जिनको क्रियान्वित करने का भार स्वयं ग्रामवासियों प
सरकार तो केवल मार्ग दर्शन, प्राविधिक तथा वित्तीय सहायता
करती है। इन परियोजनाओं का संचालन पंचायत राज संस्थ
ऐच्छिक संगठनों एवं राज्य की देखरेख में चलता है। इन परि
नाओं के अन्तर्गत निम्नांकित कार्यक्रम चलाये जाते है—

1. कृषि विकास—नवीन यत्र व पद्धतियों की सहायत
उत्पादन वृद्धि, सिंचाई के साधनों की व्यवस्था, भूक्षरण (S
erosion) की रोकथाम, सहकारी विपणन, पशु-पालन आदि का वि
करके कृषि की सहायता की जाती है।

2. शिक्षा का प्रसार—देश के दूरस्थ भागों में बच्चों को शि
प्रौढ़ शिक्षा एवं सर्वांगीण विकास की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता।

3. यातायात सामुदायिक विकास कार्यक्रमों मे ग्रामीण सड़
एवं यातायात के साधनों का विकास उल्लेखनीय है।
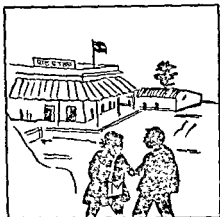
शिक्षा प्रसार

4. ग्रामोद्योग का विकास—भारतीय अर्थ व्यवस्था में इन उद्योगों को पुनर्जीवित कर अधिक रोजगार देने का प्रबन्ध किया जाता है।

5. स्वास्थ्य सेवाएं—इन योजनाओं के जरिये ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबन्ध किया जाता है।

6. आवास व्यवस्था—ग्रामीण क्षेत्रों में गृह निर्माण कार्यक्रमों को चलाया जाता है।

7. प्राविधिक प्रशिक्षण—ग्रामीण विकास के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था की जाती है।

8. समाज एवं महिला कल्याण कार्य—इन योजनाओं के द्वारा समाज के पिछड़े वर्गों, स्त्रियों एवं बालकों के कल्याण के कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि ग्रामीण विकास के सभी कार्यक्रम इन योजनाओं में सम्मिलित किये जाते हैं।

स्वास्थ्य सेवाऐं

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की प्रगति•

भारत सरकार ने अमेरिका की फोर्ड फाउण्डेशन से आर्थिक सहायता लेकर सर्व प्रथम इस योजना का प्रारम्भ उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में सितम्बर सन् 1948 में पाइलट प्रोजेक्ट (Pilot Project) के रूप में किया। सेवाग्राम, बम्बई तथा मद्रास में भी इसी प्रकार के कतिपय प्रयोग किये गए। इन सब की सफलता से प्रभावित होकर भारत सरकार ने 2 अक्टूबर सन् 1952 को भारत के विभिन्न भागों में 55 केन्द्रों पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम लागू किया। ग्राम-समाज में स्वावलम्बन एवं स्वप्रेरणा के आधार पर स्वयं जनता द्वारा बनाये

• India 1968, पृ० 252—261 पर आधारित

जाने वाले इस कार्यक्रम को पंचायतों, सहकारी समितियों एवं विकास मण्डलों द्वारा प्रोत्साहन दिये जाने की व्यवस्था की गई।

ये कार्यक्रम खण्ड की इकाइयों (Units of block) में चलाये जाते हैं। इस खण्ड इकाई में लगभग 100 गाँव आते हैं जिनका क्षेत्रफल 190 से 520 वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या लगभग 60 से 70 हजार होती है।

प्रथम योजना के अन्तर्गत 1200 खण्ड स्थापित करने का लक्ष्य था। योजना में इन पर 46·02 करोड़ रुपया खर्च किया गया। प्रथम योजना के अन्त में देश में 1,069 खण्ड थे जिनके अन्तर्गत 1,06,00 गाँव तथा 6·9 करोड़ जनसंख्या आ चुकी थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इन कार्यक्रमों को देश भर में फैलाने का प्रस्ताव किया गया। योजना के अन्त में 3,100 खण्ड थे जिनके अन्तर्गत 20·9 करोड़ जनसंख्या आ चुकी थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन पर लगभग 288 करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है। योजना के अन्त तक लगभग 40 करोड़ जनसंख्या इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत आ चुकी थी। इस योजना में अतिरिक्त रोजगार देने के उल्लेखनीय प्रयत्न किये गए। तृतीय योजना की अवधि में 12 जनवरी सन् 1958 को राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) ने 'सामुदायिक विकास अध्ययन दल' द्वारा प्रस्तावित 'पंचायत राज (लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण)' की स्थापना सम्बन्धी सिफारिश स्वीकार कर ली। तदनुरूप जम्मू-कश्मीर, केरल तथा मध्यप्रदेश के अतिरिक्त सभी राज्यों में 'पंचायती राज' की व्यवस्था को लागू कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत ग्राम, खण्ड एवं जिला-स्तरीय पंचायत राज संस्थाओं को विकास एवं प्रशासन सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार एवं शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। ग्राम स्तर पंचायत राज का मुख्य आधार तीन संस्थायें पंचायत, सहकारी समिति तथा पाठशाला है। विकास ... निर्वाचन प्रणाली से चुनी हुई

पंचायत राज्य

पंचायत उत्तरदायी होती है। आर्थिक कार्यों के क्षेत्र में सहकारी समिति तथा शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं अन्य प्रवृत्तियों के लिए पाठशाला सामुदायिक केन्द्र के रूप में कार्य करती है।

वर्तमान स्थिति—31 जनवरी सन् 1969 को देश में 5,265 सामुदायिक विकास खण्ड थे जिनके अन्तर्गत 5,66,900 गांवों में बसने वाली 40·46 करोड़ जनसंख्या लाभ उठा रही थी।*

वित्तीय व्यवस्था—सामुदायिक विकास योजनाओं के संचालन के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था जनता एवं सरकार दोनों ही मिलकर करते हैं। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामवासी किसी एक कार्य को प्रारम्भ करते हैं और उसमें अपना रुपया, श्रम या सामान देते हैं। इन योजनाओं के लिये केन्द्रीय व राज्य सरकारें आवर्तक खर्च (Recurring expenses) का आधा-आधा तथा अनावर्त्ती व्यय (non recurring expenses) का 3:1 के अनुपात में बाँटती हैं। 31 मार्च सन् 1966 तक जन-सहयोग की राशि 151·30 करोड़ रुपया आँकी गई है जो सामुदायिक विकास पर किए गए कुल सरकारी खर्च का 32 प्रतिशत है। प्रारम्भ से लगाकर तृतीय योजना के अन्त तक इन कार्यक्रमों पर 502·22 करोड़ रुपये सरकार द्वारा व्यय किये गये हैं।

संगठन (Organisation)—

सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन विभिन्न स्तरों पर इस प्रकार किया जाता है—

केन्द्र स्तर पर (At the Centre level)—भारत सरकार का कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्रालय इस कार्यक्रम के लिए पूर्ण उत्तरदायी है। मूल नीति के प्रश्नों का निर्धारण उच्च-स्तरीय समिति द्वारा होता है। अन्य मंत्रालयों से सहयोग स्थापित करने के लिए विशिष्ट समितियाँ हैं।

* India 1969 p. 257

राज्य स्तर पर (At the State level)—राज्य स्तर पर इन कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व राज्य विकास समिति पर होता है जिसका अध्यक्ष राज्य का मुख्यमंत्री होता है। कतिपय मंत्रीगण इस समिति के सदस्य एवं विकास आयुक्त (Development Commissioner) इस समिति का सचिव होता है। विकास आयुक्त सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करता है तथा विभिन्न विभागों के विकास कार्यों में समन्वय स्थापित करता है।

जिलास्तर पर (At the District level)—जिलाधीश (Collector) की अध्यक्षता में गठित जिला विकास समिति एवं जिला परिषद् जिला विकास कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। जिले की सभी पंचायत समितियों के अध्यक्ष, जिले के विधान सभा के सदस्य व समद सदस्य जिला परिषद् के सदस्य होते हैं। जिला परिषद् एवं जिला विकास समिति विकास कार्यों का सचालन करते है।

खण्ड स्तर पर (At the Block level)—खण्ड स्तर पर पंचायत समिति इन कार्यक्रमों के निर्माण सचालन के लिए उत्तरदायी है। पंचायत समिति के सदस्य उस क्षेत्र की ग्राम पंचायतों के सरपंच (अध्यक्ष) तथा कुछ सहवरण (Co-opted) किये गये महिला एवम् पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधि होते हैं। खण्ड का प्रशासन चलाने के लिये एक विकास अधिकारी (B. D. O) तथा कुछ प्रसार अधिकारी होते हैं।

ग्राम स्तर पर (At the Village level)— ग्राम स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यों के लिए ग्राम पंचायत एवं ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता (V. L. W) उत्तरदायी होते हैं। ग्राम सेवक विकास कार्यों के विभिन्न अंगों का जानकार होता है और वह कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी कार्यक्रमों की सहायता करता है।

इस प्रकार हमारे देश में सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन पूर्णतः प्रजातांत्रिक (Democratic) है।

कमियाँ (Shortcomings)—

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन की संज्ञा दी जाती है। किन्तु अभी इन योजनाओं की सफलता के मार्ग मे अनेक बाधायें हैं—

1. प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी—देश मे इन योजनाओं के लिये प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओ की कमी है। राष्ट्रीय सामुदायिक विकास अध्ययन एवम् अनुसन्धान परिषद् अब देश भर मे चल रहे प्रशिक्षण कार्यक्रमों की देख-रेख करती है। आशा है यह कमी शीघ्र ही दूर हो जायेगी।

2. कर्मचारियों का रुख—जन-साधारण के इस आंदोलन में कार्यकर्त्ताओं का उचित व्यवहार आवश्यक है। किन्तु इस आंदोलन में लगे कुछ कर्मचारियों के व्यवहार से जनसाधारण इस ओर आकर्षित नहीं हो पाता। अतः इन कर्मचारियों के उचित व्यवहार के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिये।

कमियाँ—

1. प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव
2. कर्मचारियों का रुख
3. कार्यक्रमों की अस्पष्टता
4. दोषपूर्ण प्राथमिकताएं
5. वित्तीय साधनों पर अधिक जोर
6. जन सहयोग का अभाव
7. पंचायत राज संस्थाओं के दोष

3. कार्यक्रमों की अस्पष्टता—इन योजनाओं के कार्यक्रम व उद्देश्य अति विस्तृत एवं अस्पष्ट हैं। परिणाम स्वरूप किसी भी क्षेत्र मे संगठित प्रयत्न करके निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।

4. दोषपूर्ण प्राथमिकतायें—यह आन्दोलन मूलतः कृषि विकास से सम्बन्ध रखने वाला है किन्तु उचित नीति-रीति के अभाव मे सड़कों

एवं अन्य निर्माण कार्य ही अधिक हुए हैं और कृषि विकास के कार्यक्रम गौण हो गये हैं।

5. वित्तीय साधनों पर अधिक जोर—इन योजनाओं में अधिकतर वित्त प्राप्ति के उपायों एवं वित्तीय साधनों के उपयोग पर ही अधिक जोर दिया गया है। इन योजनाओं का लक्ष्य जन-साधारण में जागृति करना होना चाहिये।

6. जन सहयोग का अभाव—जन-साधारण में चेतना का अभाव है इसलिये ये कार्यक्रम जनता में लोकप्रिय नहीं हो पाये। मूल रूप में जहाँ इन कार्यक्रमों का लक्ष्य स्वावलंबन एवं आत्मनिर्भरता है वहाँ ये योजनाएं अधिकांश क्षेत्रों में सरकारी योजनाएं बनकर रह गई हैं और वांछित जन-सहयोग का अभाव रहा है।

7. पंचायत राज संस्थाओं के दोष—ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का अभाव और अनुचित दलबन्दियों के कारण जनता का पूरा विश्वास नहीं जम पाया है। परिणाम स्वरूप पंचायत राज संस्थायें इस क्षेत्र में वांछित कार्य नहीं कर पाई हैं।

सफलता के लिए सुझाव—

जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है ये कार्यक्रम अभी वांछित सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं। यह हमारे युग का एक बहुत बड़ा प्रयोग है और इसकी सफलता की ओर विश्व की आँख है। इसलिये हमें कुछ रचनात्मक प्रयत्न करके आंदोलन को सफल बनाना चाहिये। यहाँ हम कुछ सुझाव दे रहे हैं—

1. इस आंदोलन में सम्मिलित किये जाने वाले सभी कार्यक्रम सुनिश्चित होने चाहिये। अत्यधिक महत्वाकांक्षी *(over ambitious)* योजनाओं का निर्माण बन्द कर देना चाहिये।

2. कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण देने के साथ-साथ उनके लिए आचार संहिता (Code of conduct) आदि बना दिये जाने चाहिये ताकि जनता उनके व्यवहार से संतुष्ट रह सके।

सुझाव—
1. सुनिश्चित योजनाएं
2. कर्मचारियों का प्रशिक्षण
3. जनता मे प्रसार
4. विभिन्न विभागों में समन्वय
5. शिक्षा का प्रसार
6. अन्य सुझाव

3. जन सहयोग प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन योजनाओं का महत्व एवम् उद्देश्य जनता मे अधिक से अधिक प्रचारित किया जाना चाहिये ।

4. विभिन्न सरकारी विभागों में समन्वय (Co-ordination) स्थापित किये बिना सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों को तेजी से आगे नहीं बढाया जा सकता । इसके लिए केन्द्र, राज्य, जिला एवं खण्ड स्तर पर समन्वय समितियाँ स्थापित की जानी चाहिए ।

5. शिक्षा का प्रसार किये बिना प्रजातन्त्र मे किसी भी आन्दोलन को सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता । पंचायत राज सस्थाओं की सफलता का रहस्य शिक्षा के प्रसार मे ही निहित है । कुछ समय तक प्रौढ़ शिक्षा व समाज शिक्षा के कार्यक्रमों को युद्ध-स्तर (War level) पर चलाया जाना चाहिये ।

6. सामुदायिक विकास के नाम पर किये जाने वाले अनावश्यक व्यय रोकना, परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को इसमे सम्मिलित करना एवं विस्तृत जन-सहयोग प्राप्त करने के उपाय भी इस दिशा में सहायक होंगे ।

उक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम अधिक सफल नही हुए हैं किन्तु यह समझना भूल होगी कि ये कार्यक्रम सर्वथा असफल रहे हैं । इनसे भारतीय ग्रामों में एक नया वातावरण तैयार हुआ है । यदि इस देश में प्रजातन्त्र एवं आर्थिक नियोजन को सफल बनाना है तो इन कार्यक्रमों को सुदृढ़ आधार पर प्रतिस्थापित करना होगा क्योंकि "विस्तार सेवायें एवं सामुदायिक संस्थायें लोकतन्त्र के प्राण हैं ।"

अध्याय 9

भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन

CO OPERATIVE MOVEMENT IN INDIA

"यदि सहकारिता असफल हो जाय तो ग्रामीण भारत की सबसे बड़ी आशा समाप्त हो जायगी।"

शाही कृषि आयोग

"सहकारिता लोकतंत्र की सभ्यता एवं संस्कृति है।"

आज का युग सहयोग का युग है। विश्व की समूची समस्याओं का हल शान्तिपूर्ण सहयोग के आधार पर सम्भव है। भारतवर्ष में भी सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता का उदय हुआ है। यहां हम सहकारिता का अर्थ एवं उसके महत्व का अध्ययन करेंगे।

सहकारिता का अर्थ (Meaning of Co-operation)—

जब आर्थिक अथवा सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से (Voluntarily) मिलकर प्रयत्न करें तो इसे हम सहकारिता अथवा सहयोग (Co-operation) कहते हैं। यह पद्धति पूंजीवाद (Capitalism) तथा समाजवाद (Socialism) दोनों ही पद्धतियों से उत्तम मानी गई है। इसमें श्रमिक मिलकर उत्पादन के सब उपादान (factors) जुटाते हैं। शक्तिहीन तथा अकेले व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सहयोग से भी भौतिक सुविधाएं प्राप्त करके जीवन स्तर (standard of living) को ऊँचा बना सकते हैं। सहकारिता के द्वारा समाज में फैली हुई रूढ़ियों को भी हटाया जा सकता है। इस प्रणाली में व्यक्तिगत लाभ का स्थान सार्वजनिक सेवा (Social good) ले लेती है। प्रतियोगिता (Competition) की जगह सहयोग का-

उदय हो जाता है। सहकारिता एक विस्तृत और व्यापक विचार-धारा है। आजकल की सभ्यता में यह हमारे जीवन का ढंग (way of life) बन गया है।

सहकारिता के सम्बन्ध में दी गई कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं—

1. प्रो. सेलिगमैन के अनुसार—"सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतियोगिता का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थों (Middlemen) की आवश्यकता समाप्त कर देना है।"

2. सर्वश्री गोर्डन तथा ब्रेयन के शब्दों में—"सहकारिता आर्थिक संगठन का एक विशिष्ट रूप है, जिसमें लोग सुनिश्चित व्यावसायिक नियमों के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्य (Business purposes) के लिये मिलकर काम करते हैं।"

3. सर हारेस प्लन्केट के अनुसार—"सहकारिता वह आत्म सहायता है जो संगठन द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण (effective) हो जाती है।"

4. सहकारी आयोजन समिति (Co-operative planning Committee) ने सहकारिता को इन शब्दों में परिभाषित किया है—"सहकारी समिति एक ऐसी संस्था है जिसमें व्यक्ति समानता (equality) के आधार पर आर्थिक हितों की उन्नति के लिए स्वेच्छा से (voluntarily) सम्मिलित होते हैं।"

5. श्री सी. आर. फे. (C. R. Fay) के मतानुसार—"सहकारी समिति हीन व्यक्तियों की संस्था है जो व्यापारिक कार्यों के लिये प्रारंभ की जाती है और जिसमें हीन व्यक्ति सम्मिलित रूप में अपनी तथा अन्य व्यक्तियों की दुर्बलता त्याग कराकर नयी शक्ति प्रदान कराते हैं।" एक अन्य स्थान पर श्री फे (Fay) ने कहा है कि, "सहकारी समिति एक ऐसी संस्था है जो हीन (poor) व्यक्तियों के द्वारा व्यापारिक

उद्देश्यों के लिए स्थापित की जाती है। उसका संचालन सदैव वि
रूप में होता है और जितने भी व्यक्ति उसमें सम्मिलित होते
समिति के लाभ को उसी अनुपात (proportion) में विभा
करने को प्रस्तुत रहते हैं जिस अनुपात में उन्होंने समिति की से
प्राप्त (in proportion to patronage) की हों।"

सहकारिता की विशेषताएं (Characteristics of Co-operation)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँ
हैं कि सहकारिता की निम्नांकित विशेषताएँ हैं:—

1. सदस्यता की एच्छिकता (Voluntary character)—स
कारी संस्थाओं का मूल आधार सदस्यता की एच्छिकता है। समि
की सदस्यता ग्रहण करने के लिये किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता।

2. सदस्यता की स्वतन्त्रता (*Freedom of membership*)—प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी जाति, वर्ग अथवा लिंग भेद के समिति का सदस्य बन सकता है। इसकी सदस्यता सब लोगों के लिए खुली होती है क्योंकि इसमें रोक रहित नीति को अपनाया जाता है।

3. समानता (Equality)—सहकारी समिति के सभी सदस्
का स्तर बराबर होता है और वे सभी संचालन में समान रूप से भा
ले सकते हैं।

4. एक सबके लिये व सब एक के लिये (Each for all and all for each) —यह सिद्धान्त सहकारिता की मुख्य विशेषता है। इसी आदर्श पर सहकारी समितियाँ कार्य करती हैं।

5. प्रजातन्त्रात्मक संगठन (Democratic set up)—सहकारी समितियों का संगठन व प्रबन्ध प्रजातान्त्रिक ढंग पर होता है और बैंकों में एक व्यक्ति को एक ही वोट देने का अधिकार होता है (One member one vote principle)।

6. आर्थिक आवश्यकताओं (Economic necessities) को पूरा करने का उद्देश्य—सहकारी समिति एक विशेष आर्थिक उद्देश्य को लेकर चलाई जाती है। इससे समाज के पिछड़े हुये और दुर्बल व्यक्तियों को संरक्षण मिलता है और वे अपनी आर्थिक उन्नति करते हैं।

7. नैतिक गुणों (Moral qualities) पर जोर—यह आन्दोलन सदस्यों में मितव्ययता, सहृदयता, पारस्परिक मेलजोल और नैतिक गुणों के उत्थान पर ध्यान देता है।

सहकारिता की विशेषतायें

1. ऐच्छिकता
2. स्वतन्त्रता
3. समानता
4. एक सबके लिए व सब एक के लिये
5. प्रजातन्त्रात्मक संगठन
6. आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का उद्देश्य
7. नैतिक गुण
8. प्रतियोगिता का अन्त
9. मध्यस्थो का लोप
10. सेवा भावना

8. प्रतियोगिता (Competition) का अन्त—सहकारी समितियों के निर्माण से गलाघोट प्रतियोगिता (Cut throat Competition) का अन्त हो जाता है।

9. मध्यस्थों का लोप (Elimination of Middlemen)—सहकारी समितियों द्वारा न केवल प्रतियोगिता का अन्त होकर उत्पादन

वृद्धि होती है वरन् उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों का भी अन्त हो जाता है।

10. सेवा भावना (Spirit of Service)—ये समितियाँ भौतिक लाभ की अपेक्षा समाज तथा सदस्यों की सेवा पर अधिक जोर देती हैं। समाज सदस्यों या उपभोक्ताओं पर दबाव या बोझ डालकर लाभ कमाना सहकारिता आन्दोलन का उद्देश्य नहीं होता।

सहकारिता का महत्व (Importance of Co-operation)—

"सहकारिता" पूंजीवाद एवं समाजवाद दोनों ही प्रणालियों में उत्तम मानी गई। इस पद्धति में व्यक्तिगत लाभ का स्थान सार्वजनिक हित ले लेता है। इसके द्वारा शक्तिहीन तथा अकेले व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर सभी भौतिक सुविधाएं प्राप्त करके अपना जीवन स्तर ऊंचा उठा सकते हैं। सहकारिता एक व्यापक और विस्तृत विचारधारा है जिसे आजकल की सभ्यता में जीने का तरीका (way of life) माना जाता है। सहकारिता उत्पत्ति तथा वितरण के क्षेत्र में होने वाली अनावश्यक प्रतियोगिता (Competition) को समाप्त कर देती है। विदेशों में सहकारिता अनेक क्षेत्रों में सफल रही है सहकारी समितियाँ समाज में फैले हुए दोषों को दूर कर नए जीवन की मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने में सहायता करती हैं। सहकारिता से समाज के दुर्बल व्यक्तियों में आत्म विश्वास की भावना बढ़ती है और उनका शोषण बन्द हो जाता है। ये समितियाँ सदस्यों को नैतिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक लाभ भी प्रदान करती हैं।

'सर मैल्कम डार्लिंग (Sir Malcom Darling) के शब्दों में—

"एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी, फिजूल खर्ची, झगड़ाखोरी और जुआबाजी सभी कम हो जाते हैं और उनके स्थान पर परिश्रम, आत्म विश्वास, ईमानदारी, "शिक्षा, मितव्ययता, स्वावलम्बन और पारस्परिक सहायता पाया जाता है।"

भारत में सहकारी आन्दोलन का इतिहास (History of Co-operative movement in India)—

सन् 1882 में लार्ड रिपन को सर विलियम वेडरबर्न और न्यायाधीश रानाड़े ने ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिये सहकारी कृषि बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया था। सन् 1897 में सर फ्रेडरिक निकलसन ने तथा 1901 में दुर्भिक्ष जाँच समिति ने ग्रामीण साख के लिए ग्रामीण सहकारी बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया।

भारत मे सहकारी आन्दोलन का वास्तविक सूत्रपात सन् 1904 में ही हुआ जबकि सरकार ने सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act 1904) बनाया। इस कानून के अन्तर्गत केवल सहकारी साख समितियाँ बनाई जा सकती थीं जिनका उद्देश्य ऋण देना और जमा प्राप्त करना ही था। सहकारी साख समितियों को दो भागों में बांटा गया—(1) ग्रामीण, और शहरी कुछ समय बाद ही इस कानून में कमियाँ नजर आने लगीं जिनके कारण आन्दोलन की व्यवस्था, लाभ वितरण की व्यवस्था व केन्द्रीय संस्थाओं की स्थापना की व्यवस्था इस कानून के अन्तर्गत नहीं थी।

अतः इस कानून मे सुधार करने के लिए सन् 1912 मे दूसरा सहकारी अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत गैर-साख समितियाँ (Non credit Societies) भी स्थापित की जा सकती थीं। केन्द्रीय साख संस्थाओं का गठन तथा समितियों का नए सिरे से वर्गीकरण इस नियम की दो और उल्लेखनीय बातें हैं। इन सुधारों के परिणामस्वरूप सहकारी आन्दोलन तेजी से फैलने लगा। सन् 1914 में सर एडवर्ड मेक्लेगन के नेतृत्व में एक समिति सहकारी आन्दोलन की जाँच के लिए बनाई गई जिसने अनेक सुझाव दिए। सन् 1919 मे मोन्टेग्यू के अन्तर्गत सहकारिता प्रान्तीय विषय बना दिया

गया। अलग-अलग प्रान्तों में इससे सम्बन्धित कानून बनाए गए। सन् 1926 के शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) तथा सन् 1931 की भारतीय बैंकिंग जांच समिति (Indian Banking Enquiry Committee) के प्रतिवेदनों से भी आन्दोलन को बल मिला। सन 1929-33 की विश्वव्यापी मंदी ने आन्दोलन को बहुत धक्का पहुँचाया। कृषि पदार्थों का मूल्य बहुत कम होने से समितियों का ऋण डूबने लगा। परिणामस्वरूप कई समितियों को अपना कार्य बन्द करना पड़ा। सन् 1935 में रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की गई जिसने आन्दोलन की विस्तार से जांच की।

द्वितीय महायुद्ध काल में सहकारी आन्दोलन का विकास हुआ। इस अवधि में अनेक सहकारी संस्थाएं खोली गईं जो लोगों को उचित मूल्य पर वस्तुएं बेच सकें। वस्तुओं की कीमत बढ़ने से किसानों की हालत सुधरी और सहकारी संस्थाओं का विकास हुआ। सन् 1945 की सहकारी नियोजन समिति ने आन्दोलन की कमियों का पता लगाया और सुझाव दिया कि प्रारम्भिक सहकारी समितियों को बहुधन्धी सहकारी समितियाँ (Multipurpose Co-operative societies) में बदल देना चाहिए।

सन् 1945 के बाद सहकारी आन्दोलन का तेजी से विस्तार हो रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद योजना आयोग (Planning Commission) का गठन किया गया जिसने सहकारिता के विकास पर बहुत जोर दिया। सन् 1957 में सर मेल्कम डार्लिंग ने सहकारिता के प्रगति एवं भावी विकास के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। सन् 1960 में श्री बैकुण्ठलाल मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसने ग्रामीण साख पर महत्वपूर्ण सुझाव दिए। भारत में सहकारी संस्थाओं का वर्तमान ढांचा इस प्रकार है—

सहकारी समितियाँ

- प्रारम्भिक समितियाँ (Primary societies)
  - ग्रामीण (Rural) समितियाँ
    - साख (Credit) समितियाँ
      - कृषि साख समितियाँ
      - अकृषि साख समितियाँ
    - गैर-साख (Non-credit) समितियाँ
  - शहरी (Urban) समितियाँ
    - साख समितियाँ
      - कृषि गैर-साख समितियाँ
      - अकृषि गैर साख समितियाँ
    - गैर साख समितियाँ
- केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा गारन्टी व निरीक्षक संघ
- प्रान्तीय अथवा शीर्ष बैंक
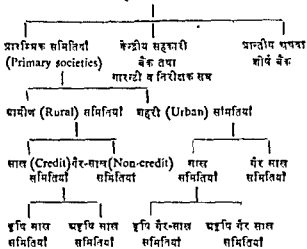
उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि हमारे देश की सहकारी संस्थाओं को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जाता है—

1. प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ—इन समितियों में सदस्यों का सीधा सम्बन्ध रहता है। केन्द्रीय संस्थाएं इन समितियों की मदद करती हैं। ये समितियाँ साख व गैर-साख सभी कार्यों के लिए बनाई जा सकती हैं। ये समितियाँ फिर दो भागों में बाँटी जा सकती हैं—(क) ग्रामीण और (ख) शहरी। द्वितीय योजना के अन्त में इन समितियों की संख्या 2 लाख 10 हजार थी अब देश में 3,32,400 समितियाँ हैं।*

2. केन्द्रीय संगठन—ये संगठन प्राथमिक समितियों को संगठित करने और उनकी मदद करने के लिए बनाए जाते हैं। सन् 1966-67 में केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या 346 † थी।

* India 1969 p. 268
† India 1969—p. 269

3. राज्य अथवा शीर्ष बैंक—केन्द्रीय सहकारी संस्थाओं की सहायता करने के लिए राज्य स्तर पर एक शीर्ष बैंक होता है। भारत में ऐसे बैंकों की संख्या 25 है।

भारतवर्ष में साख सहकारिता (Co operative Credit Movement)

भारतवर्ष में ग्रामीण साख का महत्व सर्व विदित है। परन्तु ग्रामीण साख के साधनों की व्यवस्था संतोषजनक नहीं है। किसान को कृषि सुधार एवं अन्य कार्यों के लिए साख की आवश्यकता होती है जिसको पूरा करने में सहकारी साख (Co-operative credit) संस्थाएं भी किसान की सहायता करती हैं। हमारे देश में पाई जाने वाली कुल सहकारी समितियों का लगभग 79 प्रतिशत भाग सहकारी साख समितियों के रूप में है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि हमारे यहाँ सहकारी आन्दोलन मुख्यतः किसानों को सस्ते ब्याज दर पर ऋण दिलाने के लिए ही प्रारम्भ हुआ था। सन् 1904 का सहकारी कानून केवल साख समितियों के गठन पर ही प्रकाश डालता था। इस प्रकार हमारे देश के सहकारी ढाँचे में साख सहकारी समितियों का विशेष स्थान है, इसलिए यहाँ हम इनके बारे में विस्तार से पढ़ेंगे।

कृषि सहकारी समितियों का संगठन एवं कार्य-प्रणाली

भारत में सहकारी संस्थाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्रान्त या राज्य के स्तर पर राजकीय बैंक या शीर्ष बैंक (Apex Banks) जिला, तहसील या ताल्लुका स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक, तथा गाँव अथवा शहरों में समुदाय के स्तर पर प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ यहाँ हम प्रारम्भिक कृषि (अथवा ग्रामीण) सहकारी साख समिति के संगठन एवं कार्य पद्धति पर विचार करेंगे जिससे कृषि क्षेत्र की अन्य समितियों की कार्य प्रणाली की सामान्य जानकारी मिल जाएगी।

गाँवों में पाई जाने वाली ये समितियाँ रैफेसन (Raiffeisen) सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इनकी कार्य प्रणाली एवं संगठन के बारे में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय हैं—

(1) सदस्यता (Membership)—एक ही गाँव अथवा जाति के 10 व्यक्ति (18 वर्ष की आयु से ऊपर) इकट्ठे मिलकर समिति आरम्भ

कर सकते हैं। सदस्यों की संख्या 100 से अधिक नहीं होती है, किन्तु दूसरी पंचवर्षीय योजना के अनुसार बड़ी समितियों की सदस्य संख्या 500 तक कर दी गई है। सदस्य संख्या सीमित होने से सदस्यों में पारस्परिक सहयोग स्थापित हो जाता है।

2. कार्य क्षेत्र (Area of operation)—प्रायः एक गाँव में एक ही सहकारी साख समिति की स्थापना हो सकती है। किन्तु व्यवहारिकता में कुछ राज्यों में कई गाँव एक समिति के अन्तर्गत आ जाते हैं। श्री वैकुण्ठलाल मेहता कमेटी 1960 का मत था कि एक समिति के अन्तर्गत आने वाले गाँवों की दूरी समिति के प्रधान कार्यालय से 3-4 मील से अधिक नहीं होनी चाहिये। व्यवहार के दृष्टिकोण से इसका क्षेत्र "पंचायत का कार्य क्षेत्र" होना अधिक उत्तम रहेगा।

3. रजिस्ट्रेशन (Registration)—समिति का गठन करने हेतु 10 या अधिक वयस्क (major) व्यक्ति राज्य के सहकारी विभाग के रजिस्ट्रार के पास आवेदन पत्र देकर समिति का पंजीयन (registration) करा सकते हैं।

4. उद्देश्य (Aims)—इनका उद्देश्य सदस्यों के भौतिक तथा नैतिक स्तर (material and moral standards) दोनों को ऊँचा उठाना है। सदस्यों की सहायता करने के साथ-साथ उनके नैतिक गुणों, जैसे—मितव्ययता (thrift), समय की पाबन्दी (punctuality) मिलनसारी, स्वावलम्बन (self-help) आदि की भावनाओं को जागृत करती हैं।

5. दायित्व (Liability)—प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है। अपरिमित दायित्व (unlimited liability) के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य समिति के ऋण को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से चुकाने के लिये बाध्य होता है। सदस्य प्रायः एक गाँव के होते हैं इसलिये आपसी विश्वास बना रहता है। इस कारण से वे असीमित दायित्व स्वीकार कर लेते हैं। अब ग्रामीण क्षेत्र में भी सीमित दायित्व समितियाँ बड़ी संख्या में स्थापित हो गई हैं।

6. प्रबन्ध (Management)—इन समितियों का प्रबन्ध प्रजातन्त्रात्मक (democratic) तथा अवैतनिक (honorary) होता है। इनके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व दो समितियों पर होता है—(अ) साधारण सभा (General Meeting) तथा (आ) कार्यकारिणी समिति या प्रबन्ध समिति (Managing or Executive Committee)। साधारण सभा मे समिति के सभी सदस्य सम्मिलित हैं। साधारण सभा की बैठक साधारणतया वर्ष में एक बार होती है। साधारण सभा पदाधिकारियों का चुनाव करना, वैतनिक सेक्रेट्री की नियुक्ति करना, बजट पास करना, रजिस्ट्रार और आय-व्यय निरीक्षकों की रिपोर्ट पर विचार करना आदि कार्य करती हैं। यह समिति वार्षिक लाभ के वितरण और रक्षित कोष (Reserve fund) के उपयोग निर्धारित करने के अतिरिक्त सदस्यों को दिये जाने वाले आदि प्रश्नों पर भी विचार करती है।

कार्यकारिणी सभा के कार्यों में प्रमुख हैं—साधारण सभा के आदेशों का पालन करना, ऋण देना, ऋण वसूली तथा धन की व्यवस्था करना, वार्षिक हिसाब-किताब साधारण सभा में प्रस्तुत करना आदि।

7. पूंजी (Capital)—समिति प्रवेश शुल्क, अंश पूंजी (Share capital), जमाएं (Deposits) तथा ऋण के द्वारा कार्यशील पूंजी (Working capital) का प्रबन्ध करती हैं। कहीं-कहीं समितियों के अंश (Shares) नहीं होते। बाह्य साधनों से प्राप्त पूंजी में केन्द्रीय सहकारी बैंक, राजकीय बैंक तथा अन्य समितियों का योगदान उल्लेखनीय है।

8. निरीक्षण एवं जाँच (Audit and supervision)—इन समितियों के काम का निरीक्षण एवं हिसाब किताब की जाँच का उत्तरदायित्व राज्य के सहकारी विभाग के रजिस्ट्रार पर होता है। वह निरीक्षक तथा अंकेक्षकों की नियुक्ति करता है जो इस कार्य को करते हैं।

9. ऋण का उद्देश्य (Object of loans)—साधारणतया ऋण उत्पादन कार्यों (Productive purposes) के लिए दिये जाते हैं,

जैसे—बीज, खाद औजार आदि खरीदना। किन्तु कभी-कभी किसानों को साहूकार के चुंगल से बचाने के लिये अनुत्पादक कार्यों तथा पुराने ऋण को चुकाने के लिए भी ऋण दिए जाते हैं।

10. ऋण की वसूली (Recovery)—ये समितियाँ अपने सदस्यों से ऋण वसूली के लिये किश्तें (Instalments) कर लेती हैं और भुगतान ऐसे समय पर माँगा जाता है जबकि सदस्यों के लिये चुकाना सुविधाजनक हो। ऋण वसूली ठीक समय पर होनी चाहिए। केवल वास्तविक कठिनाई होने पर ही वसूली स्थगित (postpone) की जाती है।

11. जमानत (Security)—सैद्धान्तिक रूप से इन सहकारी समितियों में ऋण के लिए वास्तविक जमानत सदस्यों की ईमानदारी और चरित्र (honesty and character) है। परन्तु व्यवहार में ऋण देते समय समिति अन्य दो सदस्यों की जमानत लेती है जिससे ऋणों के डूबने का डर कम हो जाता है।

12. ब्याज की दर—इन समितियों की ब्याज दरें महाजन एवं बाजार की प्रचलित दरों से काफी कम होती हैं। परन्तु ये दरें अत्यन्त नीची हों तो गाँव वाले अनावश्यक ऋण लेने को प्रेरित होंगे।

13. लाभ का वितरण—जहाँ अंश पूंजी नहीं होती, उस समिति का सारा लाभ रक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है। जहाँ अंश पूंजी होती है वहाँ लाभ का कम से कम $\frac{1}{4}$ भाग रक्षित कोष में जमा करने के बाद शेष लाभ 10% शिक्षा, परोपकार और अन्य सामाजिक कार्यों के लिए व्यय हो सकता है। बचे हुए लाभ को निश्चित सीमा तक सदस्यों में लाभांश (dividend) के रूप में बाँटा जा सकता है।

14. पंचायत (Arbitration)—समिति और सदस्यों के बीच होने वाले झगड़े या मतभेद को निपटाने के लिये पंचायत का गठन होता है। इससे न्यायालयों में नहीं जाना पड़ता है और समय, शक्ति तथा व्यय में बचत हो जाती है।

15. समिति का भंग होना—(Dissolution)—रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि यदि वह किसी समिति के कार्य से संतुष्ट नहीं है तो उसे भंग कर दे।

भारतवर्ष में कृषि सहकारी संस्थाओं की वर्तमान स्थिति—*

भारतवर्ष के सहकारी ढांचे में कृषि सहकारी संस्थाओं का बाहुल्य है। यहाँ हम कुछ कृषि सहकारी समितियों की कार्यप्रणाली एवं वर्तमान स्थिति का अध्ययन करेंगे।

1. सहकारी कृषि साख (Agricultural credit) समितियाँ—भारत में इन समितियों का महत्व बहुत है। ये समितियाँ कृषकों को सस्ते ब्याज दर पर ऋण प्रदान करती हैं। सन् 1966-67 में इन समितियों की संख्या 1·97 लाख थी। इन समितियों की सदस्य संख्या 2·70 करोड़ थी।

2. भूमि विकास बैंक (Land Development Banks)—ये बैंक कृषकों को दीर्घकालीन साख ऋण प्रदान करने का कार्य करते हैं। राज्य स्तर पर एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक होता है जो उस राज्य के विभिन्न जिलों में स्थित प्राथमिक बैंकों को ऋण देता है। देश में 18 केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (Central Land Mortagage Banks) हैं। प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों की संख्या 707 है। इन बैंकों की सदस्य संख्या 12·55 लाख तथा कार्यशील पूंजी 173·59 करोड़ रुपये है। 1966-67 में इन बैंकों ने 40·84 करोड़ रुपयों का ऋण दिया।

3. सेवा सहकारी समितियां (Service co-operative Societies)—यह ग्रामीण व्यक्तियों का वह संगठन है जो अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिये

*India 1969, p. 266-273 पर आधारित.

पारस्परिक सहायता एवं सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर संगठित हुए हैं। द्वितीय योजना के अंतर्गत बहुउद्देशीय सहकारी समितियों को अधिक व्यापक रूप में संगठित कर सेवा सहकारी समितियों में परिणित कर दिया गया। ये समितियाँ कृषकों के लिए साख, विपणन सिंचाई, कृषि-उपकरण, आदि की व्यवस्था करती हैं। ये समितियाँ कुटीर उद्योगों के कारीगरों की मदद भी करती हैं। ये समितियाँ सहकारी कृषि (Co-operative Farming) का मार्ग प्रशस्त करती हैं। इन समितियों का ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में बहुत महत्व है।

4. विपणन समितियाँ (Marketing Societies)—कृषि में सहकारी विपणन समितियों का महत्व बहुत है। इनके द्वारा कृषकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण, अपनी उपज का उचित मूल्य एवम् पदार्थों को सुरक्षित रखने की सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। देश में 3,295 प्राथमिक विपणन समितियाँ हैं जिनकी सदस्य संख्या 20.92 लाख एवम् कार्यशील पूंजी 76.49 लाख रुपये हैं।

5. गन्ना विक्रय (Sugarcane Supply) समितियाँ—किसान जब गन्ना बोता है तो उसका उचित मूल्य प्राप्त करने के लिये इन समितियों की सहायता ली जाती है। ये समितियाँ मुख्यत. बिहार एवं उत्तर प्रदेश में लोकप्रिय हैं। प्रारम्भिक समितियों की संख्या 6,488 है जिनकी सदस्य संख्या 26.61 लाख है।

6. सहकारी खेती (Co-operative farming) समितियाँ—अब कृषि विकास के लिए सहकारी खेती का महत्व स्वीकार कर लिया गया है। उपविभाजन व अपखण्डन को रोकने, कृषि श्रमिकों के पुनर्वास एवं यांत्रिक खेती के लिए ये समितियाँ बहुत उपयोगी हैं। मार्च सन् 1968 में इन समितियों की संख्या 8,582 थी।*

7. अन्य समितियाँ—इन समितियों में दुग्ध विक्रय समितियाँ, सिंचाई समितियाँ, भवन निर्माण समितियाँ, मछियारों की समितियाँ,

*India 1969, p. 254

चकबन्दी समितियाँ, आदि उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कृषि के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

कृषि के विकास में सहकारी समितियों का योग—

(Role of Co-operative Societies in Agricultural Development of India)

भारतवर्ष में सहकारिता आंदोलन मुख्यतः कृषि साख की सुविधाओं के विस्तार हेतु ही प्रारम्भ किया गया। तत्पश्चात् कृषि सहकारिता के क्षेत्र में अन्य गैर साख (Non-credit) समितियों की भी स्थापना की गई। कृषि क्षेत्र में सहकारी समितियों से निम्नांकित लाभ प्राप्त हुए हैं—

1. आर्थिक लाभ (Economic Advantages)—के रूप में इन समितियों द्वारा सबसे पहला लाभ ब्याज दर में कमी के रूप में कृषकों को प्राप्त हुआ है। जहाँ पहले साहूकार मनमानी ब्याज दर वसूल करता था वहाँ अब 6 से 8 प्रतिशत ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त हो जाता है।

2. ऋण ग्रस्तता से मुक्ति—सहकारी समितियों एवं भूमि बंधक (भूमि विकास) बैंकों ने ग्रामीण ऋण ग्रस्तता में बहुत कमी की है। इससे किसान को स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ने के अवसर मिले हैं।

3. सुलभ साख—आसान किश्तों में ऋण की वापसी एवं अन्य सुलभ शर्तों के आधार पर सहकारी संस्थाओं ने साख प्रदान कर किसानों की बहुत सेवा की है।

4. बचत—सहकारी समितियों के सदस्यों में अनुत्पादक संचय (hoarding) की प्रवृत्ति को रोक कर कृषकों में बचत की आदत (Thrift) को प्रोत्साहन दिया है। यह बचत देश के आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

5. कृषि विपणन समितियों द्वारा किसान को अपनी उपज का उचित मूल्य मिलना प्रारम्भ हो गया है। इन विपणन समितियों ने कृषकों की फसल को गोदामों में सुरक्षित रखने, उचित मूल्यों के प्राप्

होने तक रुपया उधार देने एवं अन्य दृष्टियों से कृषि की महान् सेवा की है। आज देश में लगभग 3,196 कृषि विपणन समितियां हैं।

6. कृषि उत्पादन में वृद्धि–सहकारी कृषि, पशु पालन समितियाँ, सहकारी कुक्कुट शालाएं एवं अन्य सहकारी संगठनों से कृषि एवम् तत्संबंधी व्यवसायों के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई है।

7. उपभोग सहकारिता (Consumers Co-operation) के जरिए कृषक ने उपभोक्ता के रूप में बहुत लाभ उठाये हैं। सस्ती एवं पर्याप्त मात्रा में उपभोग की वस्तुओं के उपलब्ध होने से कृषक को अच्छा जीवन बिताने का अवसर मिला है।

कृषि सहकारिता के लाभ—

1. ब्याज दर में कमी
2. ऋण ग्रस्तता से मुक्ति
3. सुलभ साख
4. बचत की आदत
5. कृषि उपज का उचित मूल्य
6. कृषि उत्पादन में वृद्धि
7. उपभोग सहकारिता
8. समाजवाद की ओर
9. सामाजिक विकास
10. शिक्षा सम्बन्धी लाभ
11. प्रशासनिक लाभ
12. नैतिक लाभ

8. समाजवाद की स्थापना में इन सहकारी संस्थाओं का बहुत महत्व है। शोषण मुक्त समाज की स्थापना बिना खूनी क्रान्ति के इसी आन्दोलन के जरिये संभव है। सहकारी समितियों ने समानता के सिद्धान्त से आर्थिक विषमताओं को दूर करने में बहुत प्रयत्न किये हैं।

9. सहकारी समितियों ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने में कृषकों की बहुत सहायता की है। अनेक सहकारी समितियों ने अपने सदस्यों को सामाजिक अवसरों पर किये जाने वाले व्यय में कमी करने के निर्देश दिये हैं। सहकारी समितियाँ कृषि क्षेत्रों में शिक्षा, चिकित्सा, रोशनी, सफाई एवम् समाज कल्याण के अन्य कार्य भी करती हैं।

10. शिक्षा संबंधी लाभ (Educative advantages)—सहकारी समितियों ने लोगों के ज्ञान वृद्धि में भी सहायता की है। समिति के नियमों व उपनियमों के सम्बन्ध में उचित जानकारी प्राप्त करने के लिए साक्षर (literate) होना आवश्यक है। यदि सदस्य को किसी महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया जाए तो ऐसी स्थिति में उसका पढ़ा लिखा होना आवश्यक है। इस प्रकार समितियाँ जन शिक्षण का विकास करती हैं। ये समितियाँ जनता को बतलाती हैं कि 'संगठन ही शक्ति है' (Unity is strength)।

11. प्रशासन संबंधी लाभ (Administrative advantages)—ये समितियां प्रजातांत्रिक ढंग पर अपना कार्य करती है जहाँ सदस्यों के वोट की बहुत कीमत होती है। ऐसी स्थिति में वे अपने मताधिकार (franchise) का उचित उपयोग करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। इससे प्रशासन अधिक कुशल हो जाता है। सब सदस्यों के अधिकार समान होते हैं। इसके अतिरिक्त इन समितियों में काम करने वाले व्यक्ति ही मालिक होते हैं, इसलिये सबमें पारस्परिक मेलजोल होता है और हड़ताल या तालाबंदी (strikes & lock-outs) का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है।

12. नैतिक लाभ (Moral advantages)—आर्थिक लाभों के साथ-साथ समितियाँ सदस्यों का नैतिक स्तर (moral standard) भी ऊँचा करती हैं क्योंकि अच्छे चरित्र वाले व्यक्ति ही इन समितियों के सदस्य हो सकते हैं। सर मेलकाम डार्लिंग (Sir Malcolm Darling) के अनुसार "एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी (litigation) फिजूल खर्ची, शराब खोरी और जुआबाजी (gambling) सभी कम हो जाते हैं और उनके स्थान पर परिश्रम, आत्मविश्वास, ईमानदारी शिक्षा, पंचायतें, मितव्ययता (thrift), स्वावलम्बन (self help) और पारस्परिक सहायता (mutual assistance) पायी जाती हैं।

इस प्रकार कृषि के उत्थान में सहकारिता ने बहुत योगदान दिया है।

सहकारी आन्दोलन में कमियां—

भारतवर्ष में कृषि सहकारिता का विकास तो हुआ है किन्तु अब भी अनेक कमियां हैं जिनका निराकरण किये बिना यह आन्दोलन पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता।

1. सहकारी समितियों द्वारा कृषक की आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति ही हो पाती है ऐसी स्थिति में वह साहूकारों के चंगुल से छुटकारा नहीं पा सकता।

2. समितियों के पास पूंजी की कमी—सामान्यतया सहकारी समितियों के पास अंश पूंजी छोड़कर अपनी पूंजी नहीं होती। उसे ऋण के लिए अन्य संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है और ऋण नहीं मिलने की स्थिति में समिति का कार्य ठप्प हो जाता है।

3. सहकारिता का समान विस्तार नहीं है—वैसे ही सहकारी संस्थाओं की कमी है और इन संस्थाओं का क्षेत्रीय वितरण भी असमान है। जैसे बम्बई, मद्रास आदि राज्यों में तो इन समितियों की बहुतायत है परन्तु अन्य राज्यों में कमी है।

4. सहकारिता के सिद्धान्तों की अनभिज्ञता—इन समितियों के कर्मचारी और प्रबन्धकों का सहकारिता के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होने के कारण आंदोलन का अधिक विकास नहीं हो सका है।

5. ब्याज की ऊंची दर—सहकारी समितियों द्वारा दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दर भी ऊंची होती है क्योंकि समिति को भी अन्य संस्थाओं से ऋण लेना पड़ता है।

6. प्रबन्धकों की स्वार्थपरता—समिति का प्रबन्ध कुछ स्वार्थी लोगों के हाथ में आ जाने पर किसानों को ऋण लेने के लिए रिश्वत देनी पड़ती है।

7. ऋण की जटिलता—सदस्यों को ऋण प्राप्त करने के लिए कागजी कार्यवाही करनी पड़ती है और ऋण बहुत देर से मिलता है। परिणामस्वरूप सदस्यों को साहूकार से ऋण लेना पड़ता है।

8. दीर्घकालीन साख का अभाव—सहकारी समितियां किसानों

को केवल अल्पकालीन या मध्यकालीन ऋण ही देती हैं। भूमि बन्धक* बैंकों द्वारा दीर्घकालीन साख भी दी जाती है किन्तु वह नगण्य है।

9. समितियों का राजनीतिक प्रयोग—कई सहकारी समितियों के प्रबन्ध राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए इन समितियों का उपयोग करते हैं जिससे सहकारिता का विकास रुकता है।

10 कृषकों की अशिक्षा—किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। भारत में किसानों की अशिक्षा उन्हें सहकारी कार्य प्रणाली को समझने से रोकती है।

11. बनावटी हिसाब किताब अधिकांश सहकारी समितियाँ समय पर ऋण का भुगतान (केंद्रीय सहकारी बैंकों को) नहीं कर पातीं। सदस्यों पर समय पर ऋण का भुगतान न प्राप्त कर सकने की स्थिति में समिति अवधि से अधिक बकाया (over due) करार दे दी जाती है और वह नया ऋण प्राप्त नहीं कर सकती। ऋण प्राप्त करने के लिए प्रबन्धक झूठे हिसाब-किताब तैयार करते हैं जिससे बेईमानी और जालसाजी बढ़ती है जो सहकारिता के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

12. कृषकों में आत्म विश्वास की कमी—भारत में सहकारित-

सहकारी आन्दोलन की कमियाँ

1. किसान की आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति
2. पूँजी की कमी
3. साख सहकारिता का असमान विस्तार
4. सहकारिता के सिद्धांतों की अनभिज्ञता
5. ब्याज की ऊंची दर
6. प्रबंधकों की स्वार्थपरता
7. ऋण पद्धति की जटिलता
8. दीर्घकालीन साख का अभाव
9. समितियों का राजनैतिक उपयोग
10. कृषकों की अशिक्षा
11. बनावटी हिसाब-किताब
12. कृषकों मे आत्म-विश्वास की कमी
13. असाख समितियों का अभाव

*अब 'भूमि विकास' बैंक

आन्दोलन राज्य सरकारों द्वारा चलाया जाता है जिससे स्वयं कृषकों में आत्म विश्वास की भावना पनप नहीं सकती है।

13 कृषि क्षेत्रों में अब भी गैर साख समितियों का अभाव है जिसके बिना कृषि का संपूर्ण विकास संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक कारण हमारे सहकारी साख आन्दोलन के मार्ग में रुकावटें डालते हैं लेकिन इन कमियों को दूर करना ही होगा। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी (1951) ने ठीक ही बताया है, "सहकारिता असफल रही है, परन्तु इसे सफल होना ही चाहिये।"

आंदोलन की कमियों को दूर करने के उपाय एवं प्रगति—

सहकारी आंदोलन को सफल बनाने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने निम्नांकित सुझाव दिए हैं—

1. सहकारिता को पनपाने के लिए सरकार केवल निर्देशन का कार्य ही न करे वरन् सहकारिता आन्दोलन में साझेदारी भी करे।

2. सहकारी प्रशिक्षण का व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जाय।

3. बड़े आकार की प्राथमिक साख समितियाँ बनाई जाए। पर अब इस विचार को ठीक नहीं समझा जाता।

4. सहकारी संस्थाओं को पूंजी प्रदान करने के लिए इम्पीरियल बैंक को स्टेट बैंक में बदल दिया जाए। सन् 1955 से ऐसा कर दिया गया है।

इनके अलावा कुछ और भी सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. जो समितियाँ निर्धारित आदर्श तक न पहुँचे उन्हें समाप्त कर दिया जाए।

2. इन समितियों को अधिक पूंजी प्राप्त करवाने के लिए सरकार, बैंक व अन्य संस्थाएं कम ब्याज दर पर अधिक उधार दें।

3. समितियों के प्रबन्धकों के गैर-कानूनी कार्यों को रोकने के लिए विभागीय ढांचा सुव्यवस्थित किया जाय।

4. इन समितियों का कार्य ग्राम पंचायतों के सहयोग से प्रभावशाली बनाया जाय।

ऊपर बताएं गए उपायों में से कई मान लिए गए हैं और तेजी से काम हो रहा है। द्वितीय योजना काल में कई सरकारी दाण केन्द्र खोले गए हैं। पूँजी की सुविधाएं बढ़ाने के लिए रिज ने उदार ऋण नीति का निर्धारण किया है। इस प्रकार भार सहकारिता का भविष्य उज्ज्वल है। ठीक ही कहा गया है कि में सहकारिता असफल रही है" परन्तु सहकारिता अवश्य सफल चाहिये।"

सारांश

सहकारिता का अर्थ एवं महत्व—आर्थिक व सामाजिक की प्राप्ति के लिए कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से मिलकर प्रयत्न करें तो सहकारिता कहते है।

सहकारिता आजकल की सभ्यता में हमारे जीवन का ढंग उत्पत्ति व वितरण मे प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर सहकारिता व्यक्तियों में प्रशासनात्मक तथा सामाजिक लाभ प्रदान करती है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का इतिहास—

आन्दोलन का वास्तविक सूत्रपात 1904 में हुआ। 1912 में सहकारी समिति एक्ट बना, जिसके अन्तर्गत असाख सहकारी समि भी बनाई जा सकती थीं। 1919 के मॉन्टफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत कारिता प्रान्तीय विषय बना दी गई। 1929-1933 की विश्वव मंदी के कारण वस्तुओं की कीमतें कम हुई जिससे सहकारी आं को धक्का पहुँचा। द्वितीय महायुद्ध के समय किसानों की स्थिति सु और आंदोलन विकास हुआ। 1945 की सहकारी नियोजन समिति बहुधन्धी सहकारी समितियों के गठन की सिफारिश की। स्वत त्रता के बाद सहकारी आंदोलन का तेजी से विकास हुआ।

वर्तमान ढांचा—हमारे देश की सहकारी संस्थाएं तीन भाग में बाँटी जा सकती हैं—(1) प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ, (2) केन्द्रीय संस्थाएं और (3) राज्यीय या शीर्ष बैंक।

भारतवर्ष में साख सहकारिता—हमारे यहां कुल सहकारी समितियों का 70 प्रतिशत भाग साख सहकारी संस्थाओं के रूप में है।

प्रारंभिक कृषि सहकारी साख समिति का सगठन एवं कार्य पद्धति—ये समितियाँ रेफेमन-पद्धति पर आधारित होती हैं। इनका कार्य क्षेत्र प्राय: एक गाँव होता है। इन समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है। अब सीमित दायित्व वाली कृषि साख समितियां भी स्थापित हो गई हैं। प्रबन्ध सामान्यतया अवैतनिक होता है। इनको ऋण केंद्रीय संस्थाओं द्वारा प्राप्त होता है। भारत मे इन समितियों की संख्या 1.97 लाख है। इन समितियों ने गांव में साहूकार का एकाधिकार समाप्त कर ब्याज की दरें कम कर दी हैं।

सहकारी साख आंदोलन की कमियां—ये समितियां किसानों की आंशिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकती हैं क्योंकि इनके पास पूँजी की कमी है। साख सिद्धान्तों की अनभिज्ञता, ब्याज की ऊँची दर कुप्रबन्ध, अशिक्षा, जालसाजी आदि कुछ और उल्लेखनीय कमियां हैं।

सुझाव—सहकारिता पनपाने के लिए राज्य की सक्रिय साझेदारी, सहकारी प्रशिक्षण व पूँजी की सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिये और जो समितियां आदर्श तक नहीं पहुँची हैं उन्हें भंग कर देना चाहिये।

प्रश्न

1. 'सहकारिता' से आपका क्या तात्पर्य है? इसकी विशेषताएं बतलाइए।
2. सहकारी समितियों के मुख्य भेदों पर टिप्पणी लिखिए।
3. सहकारी समितियों का राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में महत्व निर्धारण

कीजिए। उनसे होने वाले मुख्य लाभों का वर्णन कीजिए

4. किसी प्रारंभिक कृषि सहकारी साख समिति के कार्य एवं प्रणाली का वर्णन कीजिए।

5. सहकारी साख आन्दोलन की कमी का उल्लेख करते हुए सु उपाय बताइये।

6. टिप्पणियाँ लिखिए—
   (अ) सेवा सहकारी समितियाँ
   (आ) केन्द्रीय सहकारी बैंक
   (इ) राज्यीय या शीर्ष बैंक

7. "सहकार" का क्या अर्थ है? सहकारी समितियों के लाभ समझाइये। (राज. बोर्ड, हा. से, 1

8. भारत में सहकारी साख आन्दोलन की उपलब्धियों का कीजिए। (राज. बो., हा. से. 1

अध्याय 10

कृषि विपणन

AGRICULTURAL MARKETING

"जब तक कृषि पैदावार के विपणन की समस्या को हल नहीं किया जाता तब तक कृषि की अन्य समस्याओं का हल भी अधूरा रहेगा।"

शाही कृषि आयोग

"एक अच्छा किसान अपना एक नेत्र हल पर रखता है और दूसरा बाजार पर।"

कृषि विपणन का उदय—

प्राचीन भारत में, जबकि प्रत्येक गाँव एक स्वावलम्बी इकाई (Self sufficient unit) था, कृषि उत्पादन के विपणन की कोई समस्या नहीं थी। स्वावलम्बी इकाइयों के विघटन के साथ-साथ कृषि जन्य पदार्थों के विपणन का उदय हुआ। कृषि के व्यापारीकरण (Commercialisation) के पश्चात् तो विपणन की प्रक्रिया अधिक जटिल हो गई। यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों के विस्तार के साथ-साथ कृषि पदार्थों के विपणन का क्षेत्र विस्तृत होता गया। कृषि को व्यापारिक आधार पर प्रतिष्ठित करने के बाद किसानों और उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों (Middlemen) का एक नया समूह बन गया। आज के इस वैज्ञानिक एवम् प्रगतिशील युग में भी भारतीय कृषक की अज्ञानता के कारण कृषि पदार्थों के विपणन से उसे पूरा लाभ नहीं मिलता। वर्तमान भारतीय कृषि पद्धति दोषपूर्ण है। इस बारे में हम विस्तार से इसी अध्याय में आगे विचार करेंगे।

कृषि विपणन का अर्थ—

कृषि जन्य पदार्थों को उचित मूल्य पर बेचने की पद्धति को कृषि विपणन कहा जाता है। किसान को अपने पदार्थों का उचित मूल्य मिल

सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि उचित समय, स्थान और साधन के द्वारा इन पदार्थों को बेचा जाये। संयुक्त राज्य अमेरिका के विपणन के अध्यापकों के राष्ट्रीय संगठन के अनुसार "विपणन के अन्तर्गत वे व्यावसायिक क्रियाएँ आती हैं जिनके द्वारा माल, सेवाएँ आदि उत्पादन से उपभोग तक पहुँचते हैं।"

इस प्रकार हम, संक्षेप में, कह सकते हैं कि कृषि उपज को किसान से उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिए जिन प्रक्रियाओं (Processes) की आवश्यकता होती है वे सब कृषि विपणन के अंतर्गत आती हैं। ये क्रियाएँ निम्नांकित हैं—

(1) कृषि उपज का संग्रह करके गोदामों में सुरक्षित रखना;
(2) परिवहन के साधनों की व्यवस्था;
(3) वस्तुओं का श्रेणीकरण (Grading)
(4) वस्तुओं का प्रविधिकरण (Processing)
(5) माप-तौल की सुव्यवस्थित प्रणाली;
(6) मूल्य-निर्धारण की सुव्यवस्थित पद्धति तथा;
(7) बिक्री का स्थान व पद्धति का निर्धारण।

कृषि विपणन की उक्त क्रियाओं के सम्बन्ध में जोखिम उठाने (Risk bearing) का काम भी कृषि विपणन में सम्मिलित किया जाता है।

कृषि विपणन का महत्व—

(Importance of agricultural marketing)—

भारत में कृषि अधिकांश व्यक्तियों के जीविकोपार्जन का साधन है। कृषि विपणन की सुव्यवस्था किसानों के लिए लाभदायक है जबकि कृषि विपणन की दोषपूर्ण पद्धति किसानों एवं उपभोक्ताओं, दोनों के लिए हानिकारक है। यदि विपणन की सुव्यवस्था हो तो किसान को उपज का उचित मूल्य मिल सकेगा और कृषि विकास की सम्भावनायें बढ़ेंगी। दूसरी ओर उपभोक्ताओं को भी उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न

एवं अन्य कृषि पदार्थ मिल सकेंगे। विपणन की भिन्न-भिन्न क्रियाओं में अनेक लोगों को रोजगार मिलता है। कृषि विपणन की समुचित व्यवस्था से उत्पादकों को कच्चे माल की उपलब्धि मे कोई कठिनाई नहीं होती है। इस प्रकार सुव्यवस्थित कृषि विपणन की प्रणाली देश के अधिकांश वर्गों के लिए लाभदायक है। कहा जाता है कि भारत मे कृषि का महत्व तो है ही किन्तु उससे भी अधिक महत्व कृषि उपज के विपणन का है।

भारतवर्ष में कृषि-पदार्थों के विपणन की प्रणाली—

भारतवर्ष में कृषि उत्पादन का बहुत बड़ा भाग गाँवों में ही बेच दिया जाता है। छोटे-छोटे किसानों के पास अपनी जरूरत के अलावा बहुत ही थोड़ी उपज बचती है जिसे बहुधा गाँव मे ही महाजन के हाथ बेच दिया जाता है। कुछ किसान निकटवर्ती मण्डियो में भी जाकर अपनी उपज को बेचते हैं। मण्डियों में बिक्री के लिए वे दलाल, आढ़तिए, एजेन्ट आदि की मदद लेते हैं। ये मध्यस्थ गाँवों मे जाकर किसान की उपज को प्रचलित मूल्यों से भी बहुत कम दर पर खरीद लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसान अपनी उपज चाहे गाँव में बेचे या मण्डी में, उसे पूरी कीमत नहीं मिलती। कुछ सहकारी बिक्री समितियाँ भी कृषि बिक्री का उचित प्रबन्ध कर रही हैं किन्तु इनकी संख्या आवश्यकता को देखते हुए बहुत कम है।

भारत की वर्तमान कृषि-विपणन व्यवस्था के दोष (Defects)

कृषि पदार्थों की विपणन प्रथा में कई दोष हैं। इन्हीं दोषों के कारण भारतीय कृषक अपनी उपज का पूरा मूल्य प्राप्त नहीं कर सकता। कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

1. **वस्तुओं के श्रेणीकरण का अभाव**—हमारे देश में कृषि पदार्थों के श्रेणीकरण (Grading) पर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः बढ़िया किस्म का माल भी घटिया माल की दर पर ही बिकता है जिससे कृषक को हानि होती है।

2. **बिक्री की जल्दी**—किसान निर्धन है और वह पदार्थों की

बिक्री के लिए उचित अवसर की प्रतिक्षा किए बिना ही विवश होकर उन्हें बेच देता है। इस कारण से वह अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं पा सकता।

3. कृषक की अशिक्षा—जीवन के सभी पहलुओं में शिक्षा का बड़ा महत्व है। कृषि पदार्थों के विपणन में भारतीय कृषक की निरक्षरता का व्यापारी और मध्यस्थ अनुचित लाभ उठाते हैं और किसान का शोषण होता है।

विपणन व्यवस्था के दोष

1. वस्तुओं के श्रेणीकरण का अभाव
2. बिक्री की जल्दी
3. कृषक की अशिक्षा
4. साहूकार का अनुचित दबाव
5. संग्रह की सुविधाओं का अभाव
6. साख सुविधाओं का अभाव
7. बाजार मूल्यों से सबंधित जानकारी का अभाव
8. मध्यस्थों की अधिकता
9. माप तोल की भिन्नता
10. बाजार की बुराइयाँ
11. कीमत निर्धारण की गुप्त प्रथा
12. यातायात की सुविधाओं की कमी

4. साहूकार का अनुचित दबाव—प्रायः किसान साहूकार के देनदार (debtors) होते हैं इस लिए महाजन किसान की उपज को कम कीमत पर ही आसानी से हथिया लेता है।

5. संग्रह की सुविधाओं का अभाव—कृषि की पैदावार को सुरक्षित रखने के लिये गोदामों (Godowns) की सुविधायें नहीं हैं इसलिए किसान पैदावार को बेचने की जल्दी करता है।

6. साख-सुविधाओं का (Credit Facilities) अभाव—हम पहले देख चुके हैं कि भारत में ग्रामीण साख संस्थाओं की एक सुव्यवस्थित प्रणाली का अभाव है। किसान निर्धन है पर ऐसी संस्थ

की आवश्यकता है जो उसकी उपज की जमानत पर कुछ रकम उधार दे सके और कीमतों में वृद्धि होने तक उसकी पैदावार को सुरक्षित रख सके। भारतवर्ष में ऐसी संस्थाओं की कमी है, इसलिए किसान को कम कीमत पर ही पैदावार बेचनी पड़ती है।

7. बाजार-मूल्यों से सम्बन्धित जानकारी का अभाव—मण्डी में प्रचलित भावों की जानकारी किसानों तक पहुँचाने के साधनों के अभाव में महाजन किसानों की उपज को बहुत कम मूल्यों में खरीद लेते हैं।

8. मध्यस्थों की अधिकता—किसान और उपभोक्ता के बीच में कई मध्यस्थ होते हैं। ये मध्यस्थ खरीददार और विक्रेता दोनों से ही कमीशन लेते हैं। ये मध्यस्थ कई प्रकार के होते हैं, जैसे कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, एजेन्ट आदि। ये मध्यस्थ अनेक प्रकार का कमीशन लेते हैं जिससे किसान को उपज का बहुत कम मूल्य मिल पाता है।

9. माप-तौल की भिन्नता—हमारे यहाँ अनेक प्रकार के तौल प्रचलित रहे हैं। कई व्यापारी और मध्यस्थ बांट और तौल की भिन्नता के कारण किसानों को ठगते हैं। अब सरकार ने सारे देश में दशमलव प्रणाली के समान माप-तौल प्रचलित कर दी है।

10. बाजार में प्रचलित बुराइयाँ—किसान को मण्डी की परम्पराओं के अनुसार अनेक प्रकार की लागत-धर्मादा, काटा, तुलाई, पल्लेदारी, गौशाला, प्याऊ-खर्च, चुंगी आदि देने पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो किसान को अपनी उपज का आधा मूल्य भी नहीं मिल पाता।

11. कीमत निर्धारण की गुप्त प्रथा—मण्डी में दलालों और आढ़तियों द्वारा कीमत निर्धारण के लिए प्रायः 'हाथा' प्रथा का प्रयोग किया जाता है। इसमें खरीददार और आढ़तिया अपने हाथ कपड़े के नीचे रख कर इशारों से कीमत का निर्धारण करते हैं। इस पद्धति में बेईमानी की जा सकती है जिससे किसान को ही हानि होने की सम्भावना रहती है।

12. यातायात की सुविधाओं की कमी—ग्रामीण क्षेत्रों में अभी यातायात के समुचित साधनों का विकास ही नहीं हो पाया है। इसलिये किसान अपनी उपज को मण्डी तक ले जाने में कठिनाई अनुभव करता है और पैदावार को गाँवों में ही महाजन के हाथ बेचने को बाध्य हो जाता है।

समस्या को हल करने के उपाय एवं प्रगति—

किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य मिले इसके लिए यह आवश्यक है कि मध्यस्थों की संख्या कम हो, बाजार की कुप्रथाएँ हटाई जाएँ, यातायात के साधनों का विकास हो और मण्डियों की कार्य पद्धति पर नियन्त्रण रखा जाए। यहाँ हम उन उपायों का वर्णन करेंगे जो कृषि पदार्थों के विपणन के दोषों को दूर करने में सफल हो सकेंगे।

1. सहकारी विपणन (Co-operative Marketing)—सहकारी विपणन संस्थाओं के विस्तार से बिक्री के वर्तमान दोषों को दूर किया जा सकता है। इन समितियों के द्वारा किसानों को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिल सकेगा। किसानों को व्यक्तिगत रूप से बिक्री में जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं वे सभी इन संस्थाओं द्वारा आसानी से दूर की जा सकती हैं। ये समितियाँ अपने सदस्यों के माल को, उचित कीमत आने तक, अपने पास सुरक्षित रखने का प्रबन्ध करती हैं और जरूरतमंद सदस्यों को कुछ रुपया उधार भी देती हैं। ये समितियाँ वस्तु का श्रेणीकरण (grading) भी कर सकती हैं जिससे उत्तम किस्म की वस्तु का अधिक मूल्य प्राप्त होता है। इन समितियों को भी तीन भागों में बाँटा जाता है— (क) प्रारम्भिक सहकारी विपणन समितियाँ, (ख) केन्द्रीय-बिक्री-संगठन तथा (ग) राज्यीय (state) बिक्री संगठन। इन तीनों का आपसी मेल-जोल व समन्वय होना आवश्यक है। प्रारम्भिक समितियों की आर्थिक स्थिति प्रायः बहुत सुदृढ़ नहीं होती इसलिये इनका केन्द्रीय-बिक्री संगठन से सम्बन्ध होना वांछनीय है।

इन समितियों से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं—

(अ) विपणन के क्षेत्र में सहकारिता के आ जाने से किसानों और खरीददारों के बीच मध्यस्थों की लम्बी शृंखला समाप्त हो जाती है, जिससे उत्पादक को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिल जाता है।

(आ) ये संस्थायें किसानों को अपनी पैदावार का उचित मूल्य दिलाती हैं और जब तक माल न बिक जाए तब तक के लिए साख सुविधाएँ भी प्रदान करती हैं।

(इ) सहकारी बिक्री संस्थाएँ अपने सदस्यों की पैदावार गोदामों में तब तक सुरक्षित रखती हैं जब तक कि पदार्थों का उचित मूल्य न मिल जाए।

(ई) ये समितियाँ अपने सदस्यों की उपज का उचित श्रेणीकरण कर खरीददारों को भी लाभ पहुँचाती हैं।

(उ) ये समितियाँ उत्पादकों को भी निश्चित समय पर कच्चा माल प्राप्त कराती हैं जैसे उत्तर प्रदेश एवं बिहार की गन्ना बेचने वाली सहकारी समितियाँ वहाँ की शक्कर मिलों को गन्ने की पूर्ति (Supply) करती हैं।

(ऊ) ये समितियाँ अपने सदस्यों को अन्य लाभ भी पहुँचाती हैं जैसे अच्छे बीज, खाद, औजार, कीटाणुनाशक औषधियाँ देना आदि। इन समितियों के लाभ (Profits) का उपयोग भी सदस्यों के हित के लिए ही किया जाता है।

इस प्रकार सहकारी विपणन समितियाँ किसानों के बिक्री सम्बन्धी दोषों के निवारण का अचूक इलाज है। परन्तु भारत में अब भी इन समितियों के निर्माण के मार्ग में [illegible] हैं। प्रथम समितियों के पास पूँजी की कमी होती है [illegible] तथा गोदाम की अधिक [illegible] यह है कि

समितियों को व्यापारियों की स्पर्धा (Competition) का सा करना पड़ता है। व्यापारी सदस्यों को प्रभावित करके समिति से का प्रयास करते हैं जिससे सदस्य अपनी समिति के प्रति सच्चे नहीं पौर फिर व्यापारियों के चंगुल में फस जाते हैं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि स तियों की पूंजी बढ़ाई जाए। सदस्यों के लिए भी यह अनिवार्य दिया जाय कि वे अपनी पैदावार केवल सहकारी समिति के द्वा ही बेचें।

भारत में सहकारी विपणन समितियों की प्रगति—

सहकारी विपणन के सम्बन्ध में व्यवस्थित प्रयत्नों का आर सन् 1951 में हुआ। उत्तर प्रदेश व बिहार गन्ना की सहकारी विप समितियां, महाराष्ट्र और गुजरात की कपास विपणन समितियां अ अन्य राज्यों में कुछ समितियां स्थापित की गई। द्वितीय योजनाकाल 1,869 प्रारम्भिक सहकारी विपणन समितियों को 'राष्ट्रीय सहका विकास तथा गोदाम प्रमण्डल' से सहायता दी गई। जून सन् 1967 अन्त में देश में विपणन समितियों की संख्या 3,476 थी।* इनमें राज्यीय विपणन समितियों की संख्या 24, केन्द्रीय संगठनों की संख 156 तथा प्रारम्भिक समितियों की संख्या 3,295 थी। इन समितिय की सदस्य संख्या 21,86,197 तथा कार्यशील पूंजी (workin capital) 15,350 लाख रुपए थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में 600 प्रारम्भिक विपणन समिति का गठन किया जाने का लक्ष्य था। अभी सहकारी विपणन की कु मात्रा 200 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष समझी जाती है जो तीसरी योजन

*India 1969—p. 272 इसमें गन्ना व दूध विक्रय समितियों की संख्या को सम्मिलित नहीं किया गया है।

के अन्त में बढ़कर 400 करोड़ हो जाने का अनुमान था। योजनाकाल में इन समितियों को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एवं अन्य संस्थाओं द्वारा साख भी प्रदान की जाएगी।

2 नियंत्रित बाजार—कृषि विपणन के दोषों को दूर करने का दूसरा उपाय नियंत्रित बाजारों (Regulated markets) की स्थापना है। इन बाजारों की स्थापना का उद्देश्य बाजार में प्रचलित अनुचित प्रथाओं को दूर कर विपणन को अधिक कुशल बनाना है। इन बाजारों का प्रबन्ध व्यापारियों, उपभोक्ताओं तथा सरकार के प्रतिनिधियों की एक समिति के हाथों में होता है। देश में अब नियन्त्रित बाजारों की संख्या* 1,880 है।

3. पदार्थों का श्रेणीकरण (Grading) तथा मानकीकरण (standarlisation)—कृषि विपणन को लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पदार्थों के विभिन्न प्रमाप एवं श्रेणियाँ कायम की जाएँ जिससे उत्तम किस्म की वस्तु का उचित मूल्य मिल सके। हमारे देश में श्रेणीकरण का कार्य 'कृषि उत्पादन' (श्रेणीकरण) अधिनियम, 1937 के अन्तर्गत किया जाता है। विदेशी व्यापार के महत्त्वपूर्ण कृषि पदार्थों का श्रेणीकरण करना अनिवार्य है। घरेलू व्यापार की कुछ वस्तुएँ जैसे घी, चावल, अण्डे आदि के लिए 'एगमार्क' (Agmark) का चिह्न जो शुद्धता तथा अच्छी किस्म का प्रतीक है, निर्धारित किया जा चुका है। पर अभी यह काम बहुत धीमी गति से हो रहा है। अब तक श्रेणीकरण की 444 इकाइयाँ स्थापित हो चुकी हैं।**

4. गोदामों (Godowns) का निर्माण—कृषि पदार्थों के उचित मूल्य पाने तक उपज को संग्रह करने के लिए गोदाम होने चाहिए।

*India 1969— ?

**

सरकार ने सन् 1956 में 'कृषि उपज (विकास व गोदाम) अधिनि
बनाया, जिसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय गोदाम निगम (Cen
Warehousing Corporation) तथा प्रत्येक राज्य में एक
गोदाम निगम स्थापित किए गए। इन निगमों ने मार्च सन् 1961
क्रमश: 40 तथा 266 गोदाम बनाए। द्वितीय योजना के अन्त
मण्डियों में 16,70 गोदाम तथा गाँवों में 4,100 गोदाम बन
थे। तृतीय योजना काल में गाँवों में 2,200 तथा मंडियों में 9
गोदाम और बनाए गए।

5. मूल्य सम्बन्धी जानकारी का विस्तार—किसानों को अप
उपज के बाजार भाव से परिचित करवाने के लिए मूल्य सम्बन
सूचनाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। अब रेडियो और समाच
पत्रों के माध्यम द्वारा भी मूल्य की सूचनाएं देश के सभी भागों
पहुँचाई जाती हैं। प्रतिदिन निश्चित समय पर आकाशवाणी के 'ग्रामी
कार्यक्रम' के अन्तर्गत विभिन्न मंडियों में प्रचलित कृषि पदार्थों के मा
की सूचना रेडियो द्वारा दी जाती है।

6. यातायात के साधनों का विकास—किसान को अच्छे बाजा
तक अपना माल पहुँचाने के लिए सस्ते और कुशल यातायात के साधन
की आवश्यकता होती है। प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने पचवर्षी
योजनाओं के अन्तर्गत यातायात के विकास को बहुत महत्व दिया है
तीसरी योजना में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि विकसित कृषि
क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से 6·43 कि॰ मी॰ और अन्
प्रकार की सड़क से 2·41 कि॰ मी॰ (1½ मील) से अधिक दू
नहीं होगा।

7. मापतोल की दशमलव प्रणाली (Metric System)— को
लागू करके तौल के बाटों व मात्रा के माप की विभिन्नता का अन्त क
दिया गया। इससे विपणन में सुगमता हो गई है।

सारांश

भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था असन्तोषजनक है।

विपणन का अर्थ—कृषि-जन्य पदार्थों को उचित मूल्य पर बेचने की पद्धति को विपणन कहा जाता है। विपणन के अन्तर्गत गोदामों की व्यवस्था, यातायात के साधन, वस्तुओं का श्रेणीकरण माप-तौल, मूल्य निर्धारण, बिक्री का स्थान, व पद्धति आदि क्रियाएँ आती हैं।

कृषि विपणन का महत्व—इससे किसानों, उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को लाभ, अनेक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है।

भारतीय विपणन व्यवस्था के दोष – (1) वस्तुओं के श्रेणीकरण का अभाव, (2) बिक्री की जल्दी, (3) कृषक की अशिक्षा, (4) साहूकार का अनुचित दबाव, (5) संग्रह की सुविधाओं का अभाव, (6) साख सुविधाओं का अभाव, (7) बाजार मूल्यों से सबंधित जानकारी का अभाव, (8) मध्यस्थों की अधिकता, (9) माप-तौल की भिन्नता, (10) बाजार की बुराइयाँ, (11) कीमत निर्धारण की गुप्त प्रथा व (12) यातायात की सुविधाओं में कमी।

समस्या का हल एवं प्रगति—

(1) सहकारी विपणन—जून 1967 के अन्त में सहकारी विपणन समितियों की संख्या 3,476 थी। तृतीय योजना में 600 नई विपणन समितियाँ बनाई गयी।

(2) नियन्त्रित बाजार-संख्या 1880

(3) पदार्थों का श्रेणीकरण तथा मानकीकरण।

(4) गोदामों की स्थापना—तीसरी योजना में गाँवों में 2,200 तथा मंडियों में 980 गोदाम और बनाए गए।

प्रश्न

1. कृषि विपणन किसे कहते हैं, उसका क्या महत्व है? उसके दोषों को दूर करने के सुझाव दीजिये।

सरकार ने सन् 1956 में 'कृषि उपज (विकास व गोदाम) अधिनियम' बनाया, जिसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) तथा प्रत्येक राज्य में एक-एक गोदाम निगम स्थापित किए गए। इन निगमों ने मार्च सन् 1961 तक क्रमश: 40 तथा 266 गोदाम बनाए। द्वितीय योजना के अन्त तक मण्डियों में 16,70 गोदाम तथा गाँवों में 4,100 गोदाम बन चुके थे। तृतीय योजना काल में गाँवों में 2,200 तथा मंडियों में 980 गोदाम और बनाए गए।

5. मूल्य सम्बन्धी जानकारी का विस्तार—किसानों को अपनी उपज के बाजार भाव से परिचित करवाने के लिए मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। अब रेडियो और समाचार पत्रों के माध्यम द्वारा भी मूल्य की सूचनाएं देश के सभी भागों में पहुँचाई जाती हैं। प्रतिदिन निश्चित समय पर आकाशवाणी के 'ग्रामीण कार्यक्रम' के अन्तर्गत विभिन्न मंडियों में प्रचलित कृषि पदार्थों के भावों की सूचना रेडियो द्वारा दी जाती है।

6. यातायात के साधनों का विकास—किसान को अच्छे बाजार तक अपना माल पहुँचाने के लिए सस्ते और कुशल यातायात के साधनों की आवश्यकता होती है। प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत यातायात के विकास को बहुत महत्व दिया है। तीसरी योजना में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि विकसित कृषि क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से 6·43 कि० मी० और अन्य प्रकार की सड़क से 2·41 कि० मी० ($1\frac{1}{2}$ मील) से अधिक दूर नहीं होगा।

7. मापतोल की दशमलव प्रणाली (Metric System)—को लागू करके तौल के बाटों व मात्रा के माप की विभिन्नता का अन्त कर दिया गया। इससे विपणन में सुगमता हो गई है।

अध्याय 11

ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक व्यवसाय

SUBSIDIARY OCCUPATIONS IN RURAL AREAS

"भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मे सहायक उद्योगों का स्थान रीढ़ की हड्डी के समान है।"

स्तावना—

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही हमारे आर्थिक जीवन मे सहायक व्यवसायों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कृषि के अतिरिक्त किये जाने वाले ये व्यवसाय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को समृद्धि प्रदान करने वाले हैं। यद्यपि ये व्यवसाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं किन्तु भारतीय ग्रामो में इनकी विद्यमानता तीन बातो पर निर्भर करती है—(अ) व्यवसाय के प्रति सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण, (आ) व्यवसाय के लिए आवश्यक कच्चे माल का गाँव मे उपलब्ध होना तथा (इ) निर्मित वस्तु के विपणन (Marketing) की सुविधा।

गाँवों में ये परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण इन व्यवसायों की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जो सामान्यतः सभी गाँवों मे मिलते हैं, जैसे, दूध तथा घी का व्यवसाय, रस्सा-बुनने का काम, सूत कातने का काम आदि। अन्य व्यवसाय ऐसे हैं, जैसे रेशम के कीड़े पालने का व्यवसाय, ताड़-गुड़ उद्योग आदि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसायों की विद्यमानता के पीछे वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियाँ होती हैं। वैसे ये धन्धे कृषि के सहायक हैं—प्रधान व्यवसाय नहीं।

सहायक उद्योगों का महत्व—

ये व्यवसाय हमारी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को समृद्धिशाली बनाते । भारतीय अर्थ व्यवस्था जैसी अर्द्ध-विकसित स्थिति वाले देशों के

2. भारतीय किसान की उन कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए जिनका उसे अपनी उपज की बिक्री के सम्बन्ध में सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के उपायों पर प्रकाश डालिए।

3. भारतीय बाजारों में प्रचलित मुख्य दोषों का वर्णन कीजिए। इन दोषों को दूर करने के उपाय बतलाइए।

4. टिप्पणियाँ लिखिए—

   (अ) सहकारी विपणन, (आ) नियंत्रित बाजार तथा (इ) श्रेणीकरण और मानकीकरण।

5. भारत में कृषि पदार्थों की विक्रय-व्यवस्था के दोषों का वर्णन कीजिये।

(राज. बोर्ड, हा. से., 1968)

5. आर्थिक समानता—ग्रामीण क्षेत्रों में चलने वाले ये व्यवसाय बड़े उद्योगों की भांति धन के केन्द्रीयकरण को बढ़ावा न देकर विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था को जन्म देते हैं। आय एवं धन के वितरण समानता पर आधारित ये व्यवसाय सच्चे समाजवाद के प्रवर्त्तक हैं।

6. कृषि के पूरक—जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है ये उद्योग के पूरक (Complimentary) हैं। ये कृषि पर ही आधारित होते है और कृषि को भी लाभ पहुँचाते हैं। इन उद्योगो से कृषि विकास मे सहायता मिलने के साथ-साथ कृषक की आर्थिक स्थिति मे भी सुधार आता है।

7. अन्य लाभ—इन व्यवसायों में नैतिक व चारित्रिक उत्थान, कलात्मक गौरव की वस्तुओं के निर्माण, कारखाना प्रणाली के दोषों से मुक्ति आदि लाभ भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार से व्यवसाय भारतीय अर्थ व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

कतिपय सहायक व्यवसाय—

यहाँ हम भारतीय ग्रामो में पाये जाने वाले कतिपय महत्वपूर्ण सहायक व्यवसायों का अध्ययन करेंगे—

1. दूध तथा घी का व्यवसाय (Dairying)—कहते हैं कि प्राचीन भारत में घी और दूध की नदियाँ बहती थीं किन्तु अब इनकी बहुत कमी है। भारत सदा से ही प्रधानतः शाकाहारी (Vegetarian) देश रहा है इसलिए यहाँ दूध-घी का बहुत महत्व है। यद्यपि भारत का प्रति पशु औसत दूध का उत्पादन कम है फिर भी कुल मात्रा की दृष्टि से यहाँ ब्रिटेन का चार गुना, डेनमार्क का पाँच गुना, आस्ट्रेलिया का छः गुना तथा न्यूजीलैण्ड का सात गुना दूध तैयार किया जाता है। सन् 1961 मे भारत में दूध का उत्पादन 220 लाख टन था जो तृतीय योजना के अन्त तक बढ़ कर 250 लाख टन हो जाने का अनुमान था।*

* Third Five Year Plan, p. 344—345

लिए ये व्यवसाय बहुत महत्वपूर्ण हैं। भारतीय संदर्भ में हम इन व्यवसायों से प्राप्त होने वाले लाभों का अध्ययन करेंगे।

सहायक उद्योगों का महत्व
1. अर्द्ध-बेकारी की समाप्ति
2. कृषकों को अतिरिक्त आय
3. स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति
4. कार्य प्रणाली की सरलता
5. आर्थिक समानता
6. कृषि के पूरक उद्योग
7. अन्य लाभ

1. अर्द्ध-बेकारी की समाप्ति—भारतीय कृषक को साल भर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष में वह चार महीने बिना काम के बिताता है। ऐसे खाली समय को परिवार की आर्थिक समृद्धि के लिए इन व्यवसायों में लगाया जा सकता है। इस प्रकार ये व्यवसाय हमारे गांवों में फैली अर्द्ध-बेकारी (under unemployment) को समाप्त करने में सहायक हैं।

2. कृषकों को अतिरिक्त आय—ये व्यवसाय किसानों को कृषि के अतिरिक्त भी आय प्रदान कर कृषकों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में सहायता करते हैं।

3. स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति—कुछ वस्तुएं जिनकी मांग सीमित या स्थानीय होती हैं। इन व्यवसायों के द्वारा पूरी की जा सकती हैं। बड़े उद्योग या पूर्ण समय के उद्योग इन वस्तुओं के लिए उपयोगी नहीं होते क्योंकि इनकी मांग अत्यन्त सीमित होती है। इन व्यवसायों के द्वारा कृषक अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता है।

4. कार्य प्रणाली की आवश्यकता—ये व्यवसाय बड़ी सरलता से किसान के घर, खेत या बाड़ों में चलाये जा सकते हैं। इनके द्वारा परिवार के सदस्य भी अपना योग देते हैं। इनके लिए न तो अधिक श्रम एवं भारी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता न होने के कारण किसानों द्वारा सरलता से अपना लिये जाते हैं।

2. ऊन व्यवसाय—भारतवर्ष में 4 करोड़ भेड़ें हैं जिनसे 720 लाख पौण्ड ऊन प्राप्त होती है। उत्तरी भारत की भेड़ों की ऊन सफेद तथा लम्बे रेशे वाली होती हैं। अब देश में 22 ऊनी कपड़े बनाने के कारखाने हैं जो गलीचे, कम्बल, शाल व ऊनी वस्त्र तैयार करते हैं। सन् 1967-68 में हमने 1,182 लाख रुपये* के मूल्य की कच्ची ऊन (Raw wool) का आयात किया। हम आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से कच्चा ऊन तथा इंग्लैण्ड और इटली से ऊनी वस्त्र मंगाते हैं। देश के कुल उत्पादन का लगभग आधा भाग हम कालीन-ऊन के रूप में निर्यात कर देते हैं जिससे हमें विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।**

भेड़ों से ऊन प्राप्त करने का व्यवसाय पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मद्रास, राजस्थान, मैसूर, महाराष्ट्र व गुजरात राज्यों में होता है। अमृतसर, बंगलोर, श्रीनगर, आगरा, मिर्जापुर व कानपुर ऊनी-वस्त्रोद्योग के केन्द्र हैं।

प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्ष में भेड़ों से ऊन प्राप्त करने के तरीकों के विकास एवं नस्ल सुधारने के कार्यक्रमों पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। तृतीय योजना के अन्त में ऊन का उत्पादन 900 लाख पौण्ड हो जाने का अनुमान था। योजना काल में ऊन के श्रेणीकरण एवं भेड़ों की नस्ल सुधार के कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई है।

3. चमड़े व खाल का व्यवसाय—भारतवर्ष में करोड़ों पशु मरते हैं और कुछ मांस प्राप्ति के लिए मारे जाते हैं जिनसे खालें प्राप्त होती हैं। हमें प्रतिवर्ष लगभग 250 लाख पशुओं की खालें प्राप्त होती हैं। पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र एवं गुजरात से बढ़िया किस्म की खालें प्राप्त होती हैं। हम अधिकांश खालों को बाहर भेज देते हैं। रंगी हुई खालों का मुख्य ग्राहक इंग्लैण्ड एवं बिना रंगी खालों का मुख्य आयातक का देश संयुक्त राज्य अमेरिका है।

---

* India 1969, p. 371

** Third Five Year Plan—P. 350

दूध उपभोग की दृष्टि से भारत की स्थिति असंतोषजनक है। एक व्यक्ति के सन्तुलित आहार में कम से कम 10 औंस दूध प्रतिदिन होना चाहिये पर दुर्भाग्यवश भारत में प्रति व्यक्ति दूध का उपभोग लगभग 5 औंस प्रतिदिन है।* पंजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व उत्तरप्रदेश में अन्य राज्यों की तुलना में दूध का अधिक उपभोग किया जाता है।

भारतवर्ष में दूध उत्पादन क्षेत्रों में उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, आंध्रप्रदेश, गुजरात और मध्यप्रदेश उल्लेखनीय हैं। घी उत्पादन करने वाले मुख्य राज्य पंजाब, बिहार, राजस्थान, मद्रास व मध्यप्रदेश हैं। अब कुछ व्यापारिक संस्थान बड़े पैमाने पर घी का उत्पादन भी करने लगे हैं। हमारे यहाँ अब बड़े पैमाने पर दुग्ध-शालाएं खोली जा रही हैं। भारतीय दुग्ध व्यवसाय के पिछड़ेपन के कारणों में पशुओं की घटिया नस्ल, मिलावट की समस्या, पशुओं का दुर्बल एवं रोग-ग्रस्त होना, व्यवसाय का अव्यवस्थित होना आदि उल्लेखनीय हैं। कृषकों को सहायक धन्धों में सबसे अधिक आय इसी व्यवसाय से मिलती है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत डेयरी व्यवसाय के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम रखे गये हैं। प्रथम योजना में 781 लाख रुपये खर्च करके बड़े शहरों में दुग्ध-वितरण योजनाएं चलाई गईं। द्वितीय योजना काल में डेयरी-विकास कार्यक्रमों पर लगभग 12 करोड़ रु० खर्च किये गये। अब डेयरी प्लांट्स की संख्या 29 है। दुग्ध वितरण की ग्रामीण योजनाएं भी चलाई जा रही हैं। पशु-बस्तियों तथा पशु-भोजन कारखानों के विस्तार से डेयरी उद्योग का विकास होगा। दुग्ध-शालाओं के सम्बन्ध में छः प्रशिक्षण केन्द्र चलाए जा रहे हैं। ये केन्द्र करनाल, बैंगलोर, ऐरे, आनन्द, इलाहाबाद तथा हरिनाटा में स्थित हैं। तृतीय योजना काल में डेयरी कार्यक्रमों पर 36 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था थी।

---

* Third Five Year Plan, p. 344-345

2. ऊन व्यवसाय—भारतवर्ष में 4 करोड़ भेड़ें हैं जिनसे 720 लाख पौण्ड ऊन प्राप्त होती है। उत्तरी भारत की भेड़ों की ऊन सफेद तथा लम्बे रेशे वाली होती हैं। अब देश में 22 ऊनी कपड़े बनाने के कारखाने हैं जो गलीचे, कम्बल, शाल व ऊनी वस्त्र तैयार करते हैं। सन् 1967-68 मे हमने 1,1×2 लाख रुपये* के मूल्य की कच्ची ऊन (Raw wool) का आयात किया। हम आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से कच्चा ऊन तथा इग्लैंण्ड और इटली से ऊनी वस्त्र मंगाते हैं। देश के कुल उत्पादन का लगभग आधा भाग हम कालीन-ऊन के रूप में निर्यात कर देते हैं जिससे हमें विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।**

भेड़ों से ऊन प्राप्त करने का व्यवसाय पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मद्रास, राजस्थान, मैसूर, महाराष्ट्र व गुजरात राज्यों में होता है। अमृतसर, बैंगलोर, श्रीनगर, आगरा, मिर्जापुर व कानपुर ऊनी-वस्त्राद्योग के केन्द्र हैं।

प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्ष में भेड़ों से ऊन प्राप्त करने के तरीकों के विकास एवं नस्ल सुधारने के कार्यक्रमों पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। तृतीय योजना के अन्त में ऊन का उत्पादन 900 लाख पौण्ड हो जाने का अनुमान था। योजना काल में ऊन के श्रेणीकरण एवं भेड़ों की नस्ल सुधार के कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई है।

3. चमड़े व खाल का व्यवसाय—भारतवर्ष में करोड़ों पशु मरते हैं और कुछ माँस प्राप्ति के लिए मारे जाते हैं जिनसे खालें प्राप्त होती हैं। हमें प्रतिवर्ष लगभग 250 लाख पशुओं की खालें प्राप्त होती हैं। पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र एवं गुजरात से बढ़िया किस्म की खालें प्राप्त होती हैं। हम अधिकांश खालों को बाहर भेज देते हैं। रंगी हुई खालों का मुख्य ग्राहक इंगलैण्ड एव बिना रंगी खालों का मुख्य आयातक का देश संयुक्त राज्य अमेरिका है।

* India 1969, p. 371

** Third Five Year Plan—P. 350

भारत से सन् 1967-68 में लगभग 7·39 करोड़ रुपये के मूल्य का चमड़ा और खालें अन्य देशों को भेजा गया।*

भारतवर्ष में चमड़ा साफ करने और चमड़े की वस्तुएं बनाने का काम उत्तर प्रदेश के कानपुर व आगरा, महाराष्ट्र, बंगाल, केरल, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में बहुतायत से होता है। कमाये हुए चमड़े से सूटकेस, दस्ताने, बूट, जूते-जूतियाँ, चप्पल, अटैची, बैग, थैले, बटुए, मशक, चरस, मोटर की सीटें, तबले, ढोल, नगाड़े, पुस्तकों की जिल्दसाजी, कमर पेटियाँ, शिकारी कपड़े आदि वस्तुएं बनाई जाती हैं। दुर्भाग्यवश भारत में खालें प्राप्त करने व चमड़ा रंगने के तरीके बहुत पुराने हैं जिनसे उत्पत्ति की किस्म घटिया होती है और विदेशों में इनका मूल्य कम मिलता है। तृतीय योजना में इस सम्बन्ध में उचित कार्यक्रम अपनाये गये।

4. खादी उद्योग—गाँवों में किसानों के परिवारों द्वारा कपास की रुई बनाने, सूत कातने एवं हाथ से कपड़ा बुनने का काम बहुतायत से होता है।

भारतवर्ष में खादी का बहुत महत्व है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राष्ट्रपिता गाँधीजी ने जब राजनैतिक आन्दोलन का श्री गणेश किया तब उन्होंने इसके साथ ही देश की बेकारी को दूर करने के लिए खादी-प्रचार का आन्दोलन भी चलाया। पूज्य बापू के शब्दों में "हाथ से कताई भारतीय किसान के लिए आमदनी का एक स्थायी साधन है क्योंकि भोजन के पश्चात् मनुष्य को सबसे अधिक कपड़े की ही आवश्यकता होती है। अतः यह शास्वत और सार्वभौम है। इसके लिए किसी विशेष पूंजी और मंहगे औजारों की जरूरत नहीं पड़ती। इसमें शारीरिक श्रम भी कम करना पड़ता है। अतः देश के बालक और वृद्ध सभी समान रूप से इस काम को कर सकते हैं।"

ऊन एवं सूत कातने के लिए अनेक प्रकार के चरखों का प्रयोग

* India 1969, p. 371

किया जाता है। सूती कपड़े के लिए यरवदा चक्र, देशी चरखा, विघान चक्र, अम्बर चरखा आदि अनेक प्रकार के चरखे काम में लाये जाते हैं।

5. हाथ से चावल साफ करने का उद्योग (Hand Pounding of Rice)—यह गाँवों में किया जाने वाला महत्वपूर्ण उद्योग है। ओखली या हाथ की चक्की द्वारा चावल से छिलका अलग किया जाता है। हाथ से साफ किया गया चावल अधिक शुद्ध और पौष्टिक माना जाता है। मिलों द्वारा इस क्षेत्र मे कार्य करने पर नियत्रण हेतु 1958 में चावल मिल कानून का निर्माण किया गया जिससे इस उद्योग को प्रतिकूल धक्का न पहुँच सके। ग्रामोद्योग कमीशन ने हाथ से कुटे चावल को लोकप्रिय बनाने की दिशा में अनेक कार्य किए हैं।

6. गुड़ एवं खंडसारी (Gur & Khandsari) उद्योग—भारतवर्ष में चीनी मिलों के खुलने से पहले ही गाँवों में खाँड और गुड़ बनाने का व्यवसाय बहुत अधिक विकसित था। अब भी मुख्य गन्ना उत्पादक क्षेत्रों, जैसे—उत्तर प्रदेश, बिहार आदि मे यह व्यवसाय प्रचलित है। इसमें गन्ने को कोल्हू में पेल कर रस निकाला जाता है फिर बड़े-बड़े कड़ाहों में उबाला जाता है और खाँड बनाने के लिए इस गाढ़े पदार्थ को बोरी में भरकर भारी वस्तु से दबाया जाता है। गुड़ बनाने के लिए इसकी भेलियाँ बना ली जाती हैं। गाँव में अब भी गुड़ का प्रयोग बहुत होता है।

7. ताड़ गुड़ उद्योग (Palm Gur Industry)—ताड़ के पेड़ों से गुड़ बनाने का यह व्यवसाय देश के अनेक भागों में होता है। यह कहा जाता है कि इस व्यवसाय में रोजगार देने और उत्पादन बढ़ाने की

बहुत सम्भावनायें हैं। अनुमानतः हमारे देश में 5 करोड़ ताड़ के पेड़ हैं। खादी तथा ग्रामीण उद्योग बोर्ड इस क्षेत्र में तकनीकी सहायता, मार्ग दर्शन, प्रदर्शन तथा वित्तीय सहायता दे रहा है। शराब बन्दी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए इस व्यवसाय का विकास करना आवश्यक है। इससे प्राप्त रस—'नीरा' स्वास्थ्यवर्द्धक सस्ता पेय है।

ताड़-गुड़ उद्योग

8. मधु मक्खी पालन (Bee keeping)—अधिकांश वनों में किया जाने वाला यह व्यवसाय बहुत लाभदायक है। हमारे यहाँ उत्तर प्रदेश, पंजाब, कश्मीर, केरल, मद्रास आदि राज्यों में यह व्यवसाय किया जाता है। मधु मक्खी पालन व्यवसाय से शहद, मोम आदि वस्तुयें प्राप्त की जाती हैं। इस व्यवसाय में लगे हुए लोगों को प्रशिक्षण, मार्ग दर्शन एवं वित्तीय सहायता देने हेतु खादी-ग्रामोद्योग कमीशन ने कुछ योजनायें बनाई हैं।

9. घानी तैल उद्योग (Ghani-Oil Industry)—भारत तिलहन उत्पादक देशों में विश्व भर में दूसरा स्थान रखता है। वैसे तो

नगरों में तेल प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े कारखाने चलाये जा रहे हैं फिर भी गाँवों में खेती के साथ-साथ घाणी (कोल्हू) से तेल निकालने का काम किया जाता है। कृषि कार्यों में लगे बैलों एवं देशी कोल्हू की सहायता से यह व्यवसाय चलाया जाता है।

10. रस्सा एवं टोकरियां बनाने के व्यवसाय—किसान अपने अवकाश के समय मे पटसन के रस्से बनाने का व्यवसाय करते हैं। ये रस्से कुओं से पानी निकालने, पशुओं को बांधने, चारपाइयां बुनने व अन्य कृषि कार्यों मे प्रयुक्त किये जाते हैं।

घरों मे कृषकों की स्त्रियाँ देश के अनेक भागों में बाँस या बेंत की टोकरियां एव अन्य उपयोगी सामान बनाती हैं। यह व्यवसाय मुख्य रूप से उन भागों में किया जाता है जहां बाँस व बेंत आसानी से उपलब्ध होते हैं।

11. रेशमी कीड़े पालने का व्यवसाय (Sericulture)—भारतवर्ष में 50 हजार से भी अधिक कृषक परिवार रेशम के कीड़े पालने का व्यवसाय करते हैं। मैसूर, पश्चिमी बगाल, मध्य प्रदेश, बिहार तथा मद्रास में यह व्यवसाय बहुत प्रचलित हैं। रेशम के कीड़ों से प्राप्त पदार्थ से रॉ सिल्क तथा आर्ट सिल्क (Raw silk & Art Silk) बनाई जाती है जो बहुत उत्तम होती है। भारत में रेशम के कीड़े चार प्रकार के होते हैं—रेशम, टसर, अंडी और मूंगा। इनका पालन मुख्यतः शहतूत के पेड़ों पर किया जाता है।

12. जटा (Coir) उद्योग—नारियल की जटा के रेशों से अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुएं तथा चटाइयां, पंखे, दरियां आदि बनाई जाती हैं। यह मोटर की गद्दियाँ, सोफासेट गद्दे आदि बनाने के काम भी आती है। भारतवर्ष का यह व्यवसाय मुख्य रूप से केरल में होता है जहां नारियल की सबसे अधिक उपज होती है। मैसूर, मद्रास, पं० बंगाल

व उड़ीसा में भी जटा उद्योग प्रचलित है। इससे बनी वस्तुएं विदेशों में भेजकर अधिकाधिक विदेशी मुद्राएं प्राप्त की जा सकती हैं।

13. अन्य व्यवसाय—कृषि सहायक धन्धों में बैलगाड़ी किराये पर चलाने का काम, सब्जी व फल उगाने का व्यवसाय आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये व्यवसाय कृषक की आय में वृद्धि करते हैं।

जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इनको जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि कृषक को कतिपय नवीन तकनीकियों को अपनाने के लिए प्रेरित किया जाए। ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी सहायता एवं तकनीकी मार्ग दर्शन इन व्यवसायों की उन्नति में सहायक होगा।

सारांश

कृषि के अतिरिक्त किये जाने वाले व्यवसाय से ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को समृद्धि प्राप्त होती है। यह तीन बातों पर निर्भर करती है— (1) सामाजिक व धार्मिक दृष्टिकोण, (2) आवश्यक कच्चे माल की उपलब्धि, (3) विपणन की सुविधा।

सहायक उद्योगों का महत्व—

1. अर्ध-बेकारी की समाप्ति, (2) कृषकों को अतिरिक्त आय, (3) स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति, (4) कार्य प्रणाली की सरलता, (5) आर्थिक समानता, (6) कृषि के पूरक तथा (7) अन्य लाभ।

कुछ सहायक उद्योग—

1. दूध तथा घी का उद्योग, (2) ऊन उद्योग, (3) चमड़े व खाल का उद्योग, (4) खादी उद्योग, (5) हाथ से चावल साफ करने का उद्योग, (6) गुड़ एवं खण्डसारी उद्योग, (7) ताड़ गुड़ उद्योग, (8) मधु मक्खी पालन, (9) घानी तेल उद्योग,

(10) रस्सा व टोकरियाँ बनाने का उद्योग, (11) रेशमी कीड़े पालने का व्यवसाय, (12) जटा उद्योग, (13) अन्य व्यवसाय।

प्रश्न

1. ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक उद्योगों का क्या महत्व है ? स्पष्ट कीजिए।
2. प्रमुख सहायक उद्योगो का वर्णन कीजिये।
3. टिप्पणियाँ लिखिए—
   - (अ) दूध तथा घी का व्यवसाय,
   - (आ) ऊन व्यवसाय,
   - (इ) चमड़ा उद्योग तथा
   - (ई) खादी उद्योग।

अध्याय 12

भारतवर्ष में भूमि सुधार

LAND REFORMS IN INDIA

"भूमि सुधार का सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध है।"

—डेनियल थार्नर

आर्थिक विकास में कृषि की भूधारण व्यवस्था (System of Land Tenure) तथा भूमि सुधारों (Land Reforms) का बहुत प्रभाव पड़ता है। भूमि पर किसान के उचित अधिकार से बढ़कर कृषि विकास की ओर कोई प्रेरणा नहीं हो सकती। श्री आर्थर यंग ने ठीक ही कहा है "अधिकार का जादू रेत को भी सोने में परिणित कर सकता है।"*

भूमि सुधारों का अर्थ एवं महत्व (Meaning and Importance of Land Reforms)

भूमि सुधार का अर्थ उन परिवर्तनों से है जो कृषि उत्पादन में वृद्धि कर सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। ये परिवर्तन भूधारण की प्रथा, कृषि जोत का आकार, काश्तकारी सुधार, लगान, उत्पादन वृद्धि के प्रयत्नों आदि से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं।

आर्थिक विकास के लिए भूमि सुधारों का बहुत महत्व है। भूमि सुधारों से कृषि में विकास होता है भूमि सुधार का तीन दृष्टियों से

*"The magic of property can turn sand into gold." — Arthur young.

महत्व है—(1) कृषक की आय बढ़ाने के लिए, (2) कृषि के उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए, तथा (3) सामाजिक न्याय दिलाने के लिए।

डॉ. वायलकर ने भूमि सुधारों का महत्व केवल उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से ही अधिक माना है। डॉ० आर. के. मुकर्जी ने इनका महत्व कृषक के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए माना है। डॉ० दांतावाला के अनुसार भूमि सुधार 'सामाजिक न्याय' की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं मे भूमि सुधारों की आवश्यकता सामाजिक न्याय तथा आर्थिक प्रगति के लिए अनुभव की है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि सुधारों की आवश्यकता आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय प्राप्त करने की दृष्टि से होती है। भूमि सुधारों से ही कृषि विकास की प्रेरणा, अधिक खाद्यान्नों व कच्चे माल की प्राप्ति, ऊँचा जीवन स्तर, अधिक आय, बचत व पूंजी निर्माण का स्तर एवं समानता का वातारण तैयार होता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भूमि व्यवस्था—

भारत में प्राचीन काल की भूमि व्यवस्था का विवरण मनुस्मृति में मिलता है। उस समय भूमि की उपज में से राज्य सामान्यतः $\frac{1}{6}$ भाग और विपत्तिकाल में $\frac{1}{4}$ भाग लेता था। मुगलकाल मे भूमि व्यवस्था में शेरशाह तथा टोडरमल ने सुधार किये। तदोपरान्त लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) की प्रथा चालू की।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भू-धारण की तीन प्रथाए प्रचलित थीं—

1. रैयतवाड़ी (Ryotwari) प्रथा—यह प्रथा स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले बम्बई (अब महाराष्ट्र), दक्षिणी मद्रास, अधिकांश असम व बिहार के कुछ भागों में प्रचलित थी। इस प्रथा में किसान मालगुजारी (land revenue) सीधी सरकार को देता था। यह प्रथा सन् 1792 में कैप्टेन रीड व थॉमस मुनरो द्वारा चालू की गई थी।

2. महलवाड़ी (Mahalwari) प्रथा—इस प्रथा का जन्म सन् 1833 में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अन्तर्गत आगरा व अवध में हुआ। इस प्रथा में सरकार द्वारा भूमि उस ग्राम के कुछ व्यक्तियों को समुदाय के रूप में दी जाती थी जो भूमि को किसानों में विभक्त कर देता था। समुदाय का मुखिया सरकार को लगान देता था। यह प्रथा पंजाब, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पाई जाती थी।

3. जमींदारी (Zamindari) प्रथा—इस प्रथा में एक व्यक्ति (जमींदार) कई गाँवों या एक गाँव अथवा उसके किसी हिस्से का स्वामी माना जाता था। जमींदार सरकार को मालगुजारी चुकाने के लिए उत्तरदायी होता था। जमींदार कृषकों को भूमि लगान पर देता था। इस लगान में से कुछ अपने पास रख कर शेष सरकार को दे देता था। इस प्रकार जमींदार किसान और सरकार के बीच मध्यस्थ (middleman) का काम करता था। सरकार को इस प्रथा से यह लाभ था कि उसे किसान से लगान वसूल करने का कठिनाई वाला काम नहीं करना पड़ता था। किन्तु इस पद्धति में धीरे-धीरे अनेक बुराइयों का समावेश हो गया। इस प्रथा के अन्तर्गत कृषकों का शोषण, उत्पादन में प्रेरणाओं का अभाव, जोतों का अलाभकारी होना, राजनीतिक दोष आदि अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं।

इन्हीं अनेक दोषों के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सबसे पहिले जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने का निर्णय लिया गया।

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने कृषकों की स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से भूमि सुधार के अनेक कार्यक्रम बनाये।

1. जमींदारी प्रथा एवं मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए कानून बनाये गये। जमींदारी उन्मूलन का कार्य लगभग पूरा कर लिया गया है। इससे लगभग 2 करोड़ दाये वाले काश्तकार सीधे सरकार के नियन्त्रण में आ गए।

सहकारी कृषि एवं चकबन्दी कार्यक्रमों में इस सुधार से सहायता मिली। जमींदारों को मुआवजा एवं पुनर्वास के लिए अनुदान के रूप में लगभग 320 करोड़ रुपये का भुगतान किया जा चुका है। अनुमान है कि लगभग 250 करोड़ रुपये और दिया जाएगा।*

2 काश्तकारी सुधार (Tenancy Reforms)—एक अर्द्ध-विकसित देश में जहाँ भूमि पर जनसंख्या का भार बहुत अधिक हो तथा जमींदारों द्वारा शोषण होता हो वहाँ काश्तकारी सुधार सामाजिक न्याय की दृष्टि से वांछनीय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विविध राज्यों में काश्तकारी कानून बनाये गये।

लगान नियमन (Regulation of rent) के अन्तर्गत काश्तकारों से लिये जाने वाले अधिकतम लगान की सीमा तय कर दी गई। प्रथम योजना में गुजरात, महाराष्ट्र व राजस्थान में कुल उपज का $\frac{1}{6}$, दिल्ली में $\frac{1}{5}$ तथा उड़ीसा मे $\frac{1}{4}$ भाग लगान के रूप में लिये जाने की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई।

लगभग प्रत्येक राज्य में काश्तकारों को भू-धारण की सुरक्षा के सम्बन्ध में कानून बनाये गये जिससे किसान को मनमाने तरीके से बेदखल नहीं किया जा सकता।

काश्तकारी पुनर्ग्रहण (Resumption of tenancies) एवं काश्तकारों को स्वामित्व (ownership) के अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में भी अनेक कानून बनाये गये। तृतीय योजना में काश्तकारों को भू-स्वामित्व दिलाने का अधिक कार्य किया गया।

3. सीमा निर्धारण (Celling of Land Holdings)—समाजवादी समाज की रचना की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति के अधिकार में रखे जा सकने वाली भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करना आवश्यक है। इससे आर्थिक व सामाजिक [illegible] मे [illegible]मी आती है। इसी दृष्टि से अनेक राज्यों में सीमा [illegible] गये। ये

*India 1968, p. 2[illegible]

कानून दो प्रकार के हैं (1) भविष्य के जोतों पर सीमा निर्धारण तथा (2) वर्तमान जोतों पर सीमा निर्धारण। भूतपूर्व पंजाब राज्य को छोड़कर प्रायः सभी राज्यों मे ये कानून बन चुके हैं। सीमा निर्धारण कानूनों को लागू करने से सरकार को जो अतिरिक्त भूमि मिलेगी उसका उपयोग भूमिहीन श्रमिकों के लिए किया जायगा। भिन्न-भिन्न राज्यों में यह सीमा भिन्न भिन्न है।* सीमा निर्धारण करते समय भूमि की किस्म आदि का ध्यान रखा गया है।

---

* विभिन्न राज्यों की वर्तमान एवं भविष्य की जोतों का सीमा निर्धारण निम्नांकित प्रकार से किया गया है-(Source : India 1969 p. 253)

राज्य	भविष्य (एकड़ों में)	वर्तमान
आंध्र प्रदेश	18 से 2 6	27 से 324
बिहार	20 से 60	20 से 60
जम्मू-कश्मीर	22 3/4	22 3/4
मध्य प्रदेश	25 से75	25 से75
महाराष्ट्र	18 से 126	18 से126
उड़ीसा	20 से 80	20 से 80
राजस्थान	25 से 336	25 से 336
प० बंगाल	25	25
मणिपुर	25	25
असम	50	50
गुजरात	19 से 132	19 से 132
केरल	15 से 36	15 से 36
मद्रास	24 से 120	24 से 120
मैसूर	18 से 141	27 से 216
पंजाब	20 स्टेण्डर्ड	20 स्टेण्डर्ड
उत्तर प्रदेश	12½	40 से 80
	24 से 60	21 से 60
	25 से 75	25 से 75

4. चकबन्दी—दूरस्थ छोटे-छोटे खेतों की समस्या के हल का एकमात्र उपाय चकबन्दी (consolidation) है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश में चकबन्दी कार्यों में काफी प्रगति हुई। हरियाणा एवं पंजाब में चक-बंदी का कार्य लगभग पूरा हो गया है। सन् 1968-69 के अंत तक 2.957 करोड़ हेक्टर भूमि पर चकबन्दी की गई।*

5. सहकारी कृषि—प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी कृषि को सुदृढ़ आधार पर खड़ा करने का निश्चय किया गया। तृतीय योजना में पाइलट योजनाओं के अन्तर्गत 2,749 सहकारी कृषि समितियां तथा पाइलट योजनाओं के बाहर 2,752 सहकारी कृषि समितियां बनाई गईं। मार्च सन् 1968 के अन्त में इन सहकारी समितियों की संख्या 8,582 थी। चतुर्थ योजना में इस विचारधारा को अधिक व्यापक बनाने पर ध्यान देने के प्रयत्न किये जाएंगे। सहकारी कार्यक्रमों को नियोजित एवं प्रोत्साहित करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी कृषि सलाहकार बोर्डों का गठन किया गया है सहकारी कृषि कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जा रही है।

6 भूदान (Bhoodan)—स्वेच्छा से भूमि की भेंट का यह आन्दोलन सन् 1951 में आचार्य विनोबा भावे ने चलाया। आन्दोलन के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि "एक न्याय एवं समानता के सिद्धान्तों पर आधारित समाज में भूमि पर सभी का अधिकार होना चाहिए। इसीलिए हम भूमि की भिक्षा नहीं मांगते वरन् उस हिस्से की मांग करते हैं जिस पर निर्धनों का सही अधिकार होता है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि सही विचारों का प्रतिपादन किया जाये जिससे बिना किसी कठोर मतभेद के सामाजिक एवम् आर्थिक दुर्व्यवस्था को ठीक किया जा सके।" व्यवहार में भूदान वह आन्दोलन है जो स्वेच्छा से दिये गये भूमि के दान पर आधारित है। आजकल इस

*India 1969, p. 254

आन्दोलन के अनेक रूप हैं, यथा-सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, जीवन दान, साधन दान, गृह दान व ग्राम दान। मार्च 1967 तक 42.7 लाख एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त की गई जिसमें से 12 लाख एकड़ भूमि निर्धन भूमिहीनों में बांट दी गई थी। अगस्त सन् 1967 तक 39,672 गांव 'ग्रामदान' आन्दोलन में सम्मिलित हो गये हैं।*

7. अन्य सुधार—उपरोक्त कार्यक्रमों के अलावा भूमि के संगठन व कृषि के साधन एवं पद्धति को उन्नत करने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन को रोकने के लिए हस्तांतरण, उत्तराधिकार एवं लीज (Leases) के सम्बन्ध में अंकुश लगाने के कानून भी लगभग सभी राज्यों में पारित हो गये हैं।

भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन (Evaluation)—

भारत में भूमि सुधार के अत्यन्त महत्वाकांक्षी कार्यक्रम तैयार किये गये किन्तु अनेक कारणों से इनका प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितनी आशा की गई थी।

कृषि उत्पादन वृद्धि कि दृष्टि से जमींदारी उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, चक बन्दी, सरकारी कृषि एवं साधन व पद्धति में किये गये प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। इन कार्यक्रमों से कृषिजन्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हुई है।

सामाजिक न्याय की दृष्टि से भूमि सुधारों से बहुत अपेक्षाएं थीं किन्तु उनकी आंशिक पूर्ति ही सम्भव हुई है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन एवं भू-धारण की सुरक्षा से जहां कृषक को निश्चितता प्रदान करने के प्रयत्न किये गये वहीं सीमा निर्धारण, भूदान एवं अन्य संगठनात्मक उपायों से निर्धन भूमि-हीन श्रमिकों को अपने आर्थिक विकास के अवसर प्रदान किये गये। भूमि सुधारों से सामाजिक न्याय व समानता की प्रेरणा मिलती है।

हमारे यहाँ अनेक कारणों से भूमि सुधारों के वांछित परिणाम नहीं मिले। इस सम्बन्ध में योजना आयोग ने अनुभव किया है और कहा

* India 1969, p. 255

है कि "यह बात बहुत ही कम समझी गई कि भूमि सुधार एक सचेष्ट विकास कार्यक्रम है। यह भली-भांति अनुभव नहीं किया जाता है कि भू-स्वामित्व में सुधार करना तथा जोत की अधिकतम सीमा शीघ्र लागू करना सहकारिता पर आधारित ग्राम्य अर्थ व्यवस्था के निर्माण की आवश्यक चीजें हैं। यही नहीं भूमि सुधारों के प्रशासकीय ढंग की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। मिल-मिलाकर कानून की उपेक्षा करने या अमल न करने की चेष्टाएं बे-रोक-टोक चल रही हैं। कानून को कारगर तौर पर लागू करने के लिए ग्राम समाज का समर्थन तथा अनुमति भी हासिल नहीं की जा सकी है।*

भारत में भूमि सुधारों की वांछित सफलता न मिल सकने के कारणों में भूमि सुधार कानूनों की दुर्बलताएं, कार्यान्वयन में शिथिलता, काश्तकारी सूचनाओं (Tenancy Records) का अभाव आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार भारत में भूमि सुधारों की दिशा सही होते हुए भी प्रशासनिक एवं अन्य कारणों से ये अपना अधिक प्रभाव नहीं दिखा सके हैं। स्थिति में सुधार लाने के लिए भूमि सुधारों पर कोई फोर्ड फाउन्डेशन के दल की रिपोर्ट तथा भूमि सुधारों पर नागपुर-प्रस्ताव (1959) में वर्णित उपाय उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ये सुझाव हैं—कृषि व्यवस्था में लोच, रोजगार के वैकल्पिक साधन, आर्थिक प्रेरणायें, ग्राम संगठनों का सहयोग, साखी व्यवस्था का स्वरूप, सहकारी कृषि, कीमतों का निर्धारण आदि।

भूमि सुधारों के सम्बन्ध में अधिक विलम्ब नहीं किया जाना चाहिये। यही कृषि विकास एवं सामाजिक न्याय के क्षेत्र में आशा की किरण है।

राजस्थान में भूमि सुधार (Land Reforms in Rajasthan)

अन्य राज्यों की भाँति भूमि सुधार के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक प्रयत्न किए गए। (1) जागीरदारी समाप्त करने के

---

* तीसरी योजना (संक्षिप्त), पृ. 98

लिए सन् 1952 में 'भूमि सुधार एवं जागीर पुनर्ग्रहण अधिनियम' पारित हुआ। इस कानून के अन्तर्गत 17,000 गाँवों में बसने वाले काश्तकारों को लाभ मिला और जमींदारी उन्मूलन के कारण 60 प्रतिशत भूमि पर सरकार का सीधा अधिकार स्थापित हो गया। सरकार ने जागीरदारों को लगभग 36 करोड़ रुपये मुआवजे के रूप में दिये। अब तक लगभग सभी जागीरें समाप्त कर दी गई हैं।

2. जमींदारी व बिस्वेदारी उन्मूलन के लिए सन् 1958 में अधिनियम पारित किया गया। वह अधिनियम सन् 1959 में लागू किया गया जिसके अनुसार राज्य के 8 जिलों में व्याप्त इस प्रथा का उन्मूलन हो गया।

3. सन् 1955 में राजस्थान काश्तकारी कानून (The Rajasthan Tenancy Act) पारित हुआ। इस कानून के पारित होने से पूर्व अलग-अलग देशी रियासतों के अलग-अलग कानून थे। काश्तकारी कानूनों में मुख्य उल्लेखनीय हैं—काश्तकारी रक्षा अध्यादेश, 1949 (बेदखली रोकने हेतु), राजस्थान उपज लगान नियमन अधिनियम, 1952 (मध्यस्थों द्वारा 1/6 उपज से अधिक लगान नहीं लिया जा सकता), काश्तकारी कानून, भू-राजस्व कानून 1955 आदि। इन कानूनों के पारित होने से राजस्थान में काश्तकारों को भू-धारण की सुरक्षा, उचित लगान, बेगार से मुक्ति आदि लाभ प्राप्त हुए हैं।

4. जोतों का सीमा निर्धारण (ceiling on land holdings)—करने के कानून बना दिये गये हैं। सीमा निर्धारण सामाजिक न्याय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। राजस्थान में वर्तमान तथा भावी जोतों पर 25 से 336 एकड़ की सीमा निर्धारित कर दी है।

5. अन्य सुधार—भूमि सुधारों में अन्य उल्लेखनीय बातों में भूदान सहकारी कृषि एवं चकबन्दी हैं। राजस्थान में भूदान से प्राप्त 417-450 एकड़ भूमि में से 92,623 एकड़ भूमि का वितरण कर दिया गया है। चकबन्दी कानून के अन्तर्गत राज्य में 585 गाँवों में चकबन्दी

की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त राजस्थान में भू-अभिलेख (Land Records) भी नियमित रूप से रखे जा रहे हैं।

इस प्रकार पिछले 20 वर्षों में राजस्थान में भूमि सुधार के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गये है।

साराश

भूमि सुधारों का अर्थ और महत्व—भूमि सुधार का अर्थ उन परिवर्तनों से है जो कृषि उत्पादन में वृद्धि कर सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। भूमि सुधार का तीन दृष्टियों से महत्व—(1) कृषक की आय बढ़ाने के लिये (2) कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए तथा (3) सामाजिक न्याय दिलाने के लिए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भूमि व्यवस्था—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भू-धारण की तीन प्रथायें प्रचलित —थीं(1) रैयतवाड़ी (2) महलवाड़ी (3) जमींदारी—जमींदार किसान और सरकार के बीच मध्यस्थ का काम करता था। इससे छः प्रकार की बुराइयां होती थी—(1) कृषकों का शोषण (2) कृषि उत्पादन मे कमी (3) कृषक की ऋण ग्रस्तता (4) जोत का अलाभकारी होना (5) देश हितो के प्रतिकूल (6) अनार्थिक पद्धति।

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम—स्वतन्त्र भारत मे भूमि सुधार के अनेक कार्यक्रम बनाये गये। जिनमें प्रमुख इस प्रकार से हैं—(1) जमीदारी प्रथा एवं मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति (2) काश्तकारी सुधार (3) सीमा निर्धारण (4) चकबन्दी (5) सहकारी कृषि (6) भूदान (7) अन्य सुधार।

भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन—अत्यन्त महत्वाकांक्षी कार्यक्रमो के बावजूद अनेक कारणो से उनका प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना कि पड़ना चाहिये था।

राजस्थान में भूमि सुधार—राजस्थान मे इस प्रकार भूमि सुधार प्रयत्न किये गए—(1) जागीरदारी समाप्त करने के लिए 1952 का

अधिनियम, (2) जमींदारी व बिस्वेदारी उन्मूलन के लिए 1958 का अधिनियम, (3) 1955 का राजस्थान काश्तकारी कानून, (4) जोतों का सीमा निर्धारण, (5) अन्य सुधार ।

इस प्रकार राजस्थान में भूमि सुधार के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये गए ।

प्रश्न

1. "भूमि सुधार का सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध है"—डेनियल थार्नर—आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?
2. भूमि सुधार से आप क्या समझते हैं, किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था में इसका क्या महत्व है ?
3. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में हुए भूमि सुधार का वर्णन कीजिये ।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
   (i) रैयतवाड़ी
   (ii) महलवाड़ी
   (iii) जमींदारी
   (iv) चकबन्दी
   (v) सहकारी कृषि
   (vi) भूदान ।

अध्याय 13

कृषि श्रमिक

AGRICULTURAL LABOUR

"पंचवर्षीय योजनाओं का एक मूल उद्देश्य यह भी है कि ग्रामीण जनता के सभी वर्गों को रोजगार और अच्छे जीवन के सभी अवसर प्रदान किए जायें और खास कर खेतिहर श्रमिकों और पिछड़ी हुई जातियों को शेष व्यक्तियों के स्तर तक आने के अवसर प्रदान किए जाय।"

——भारतीय योजना आयोग

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि वहाँ के स्वास्थ्य एवं चरित्रवान निवासियों पर निर्भर करती है। इस सन्दर्भ मे यहाँ भारत की स्थिति का अध्ययन कर लेना उचित होगा। 32,68,090 वर्ग किलोमीटर* क्षेत्रफल वाला भारत देश जिसमें लगभग 51½ करोड़ जनसंख्या रहती है अपनी अनेक विशेषतायें रखता है। यह जनसंख्या सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या की 16 प्रतिशत है। हमारे देश में लगभग 68·9 प्रतिशत जनसंख्या कृषि एवं कृषि सम्बन्धी अन्य व्यवसायों पर आधारित है।

कृषि व्यवसाय पर आधारित जनसंख्या मे अधिकांश कृषक अथवा कृषि श्रमिक ही हैं। कृषि श्रमिकों का आज एक अलग वर्ग बन गया है।

19 वीं शताब्दी के पूर्व इनका स्पष्ट वर्ग अलग से नहीं था। 19वीं सदी के अन्त मे इनकी संख्या अधिक नहीं थी। किन्तु 20 वी शताब्दी

* India 1969, p. 1

में इनकी संख्या में वृद्धि हुई। इसी समय इनकी अनेक समस्याओं ने उग्र रूप धारण कर लिया। नीचा जीवन स्तर, निर्धनता, बेकारी,

कृषि श्रमिक

अर्द्ध-बेकारी आदि आज भी इन श्रमिकों की मूल समस्याएं हैं। सरकार ने भी इन समस्याओं के निराकरण के प्रयत्न प्रारम्भ किये हैं।

अर्थ—

सन् 1951 की जनसंख्या में कृषि श्रमिक उन्हें माना गया जो खेतों पर मजदूरी लेकर काम करे। लेकिन इस परिभाषा में उन लोगों को सम्मिलित नहीं किया गया जिनके पास थोड़ी बहुत भूमि भी है चाहे वे खेतों में मजदूरी ही करते हो। इस प्रकार 1951 तक कृषि श्रमिकों में केवल 'भूमि हीन' (Land less) श्रमिकों को ही सम्मिलित किया गया।

सन् 1950-51 में गठित प्रथम खेतिहर श्रम जाँच समिति (First Agricultural Labour Enquiry) ने कृषि श्रमिक उन्हें माना है जो वर्ष में अपने काम के कुल दिनों में आधा से अधिक दिन खेतों में श्रमिक के रूप में कार्य करें।

सन् 1956-57 की खेतिहर श्रम जाँच समिति (द्वितीय) ने कृषि के अतिरिक्त पशुपालन बागवानी एवम् दुग्ध व्यवसाय में लगे व्यक्तियों को भी कृषि श्रमिक माना है बशर्ते कृषि कार्यों में मजदूरी आय का प्रमुख साधन हो।

कृषि श्रमिक जाँचों (Agricultural Labour Enquiries) के परिणाम—

कृषि श्रम की प्रथम जाँच सन् 1950-51 में की गई। इस जाँच में 800 गाँवों के 11,000 कृषि श्रमिक परिवारों का अध्ययन किया गया। इस जाँच के प्रतिवेदन (Reports) सन् 1954-55 में प्रकाशित हुए।

द्वितीय जाँच सन् 1956-57 में सम्पन्न हुई जिसका प्रतिवेदन सन् 1960 में प्रकाशित हुआ। इस जाँच में 3,600 गाँवों के 28,560 परिवारों के आँकड़े एकत्रित किये गये।

एक अन्य जांच—ग्रामीण श्रम जांच (Rural Labour Enquiry)—सन् 1963 में की गई जिसकी रिपोर्ट अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

प्रथम एवम् द्वितीय जांच के तुलनात्मक परिणाम नीचे दिये जा रहे हैं।

1. सन् 1956-57 में कृषि श्रमिक परिवारों की संख्या 1·63 करोड़ आंकी गई जबकि सन् 1950-51 में यह संख्या 1·79 थी। इस कमी का कारण सम्भवतः इन दोनों जांचों में 'कृषि श्रमिक' की परिभाषा का अन्तर है।

2. भूमिहीन कृषि श्रमिकों का प्रतिशत सन् 1956-57 में 57 था जबकि सन् 1950-51 में यह प्रतिशत 50 था।

3. सन् 1950-51 में स्थायी श्रमिकों (Attached Labour) तथा अस्थायी श्रमिकों (Casual Labour) का अनुपात 10 : 90 था सन् 1956-57 में स्थायी श्रमिकों का प्रतिशत 27 था।

4. कृषि श्रमिक परिवार के सदस्यों की औसत संख्या सन् 1950-51 (4·30 सदस्य) की तुलना में सन् 1956-57 में बढ़ (4·40 सदस्य) गई।

5. सन् 1950-51 में 3·5 करोड़ कृषि श्रमिक (जिनमें से 1·9 करोड़ पुरुष, 1·4 करोड़ स्त्रियां, 20 लाख बच्चे) थे जबकि सन् 1956-57 में कृषि श्रमिकों की संख्या 3·3 करोड़ थी (जिसमें 1·8 करोड़ पुरुष-स्त्रियां तथा 30 लाख बच्चे शामिल हैं।

6. कृषि श्रमिकों के (अस्थायी) रोजगार की तुलनात्मक स्थिति निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाती है—

श्रमिक (अस्थायी)	मजदूरी पर जाने के दिन		स्वयं के काम में लगने के दिन		बेकारी के दिन	
	1950-51	1956-57	1950-51	1956-57	1950-51	1956-57
पुरुष	200	197	75	40	90	128
स्त्रियाँ	134	141	×	×	×	×
बच्चे	165	204	×	×	×	×

7. सन् 1950-51 में कृषि एवं गैर कृषि मजदूरी से कृषि श्रमिकों की आय का 76 प्रतिशत भाग हुआ वहाँ सन् 1950-51 में यह प्रतिशत 81 था। सन् 1950-51 की तुलना मे द्वितीय जांच में मजदूरी की दर में कमी का आभास मिला। सन् 1950-51 में जहाँ प्रति श्रमिक परिवार की औसत वार्षिक आय 447 थी वहाँ सन् 1956-57 में यह घटकर 437 हो गई।

8. कृषि श्रमिक परिवारों का औसत वार्षिक उपभोग जहाँ सन् 1950-51 मे 461 रुपये के मूल्य का होता था वहां सन् 1956-57 में बढ़कर 617 हो गया। इस प्रकार जहाँ पहले 14 रुपये का घाटा था वहा दूसरी जांच मे यह घाटा 180 रुपया प्रति परिवार हो गया। इस बढ़ी हुई घाटे की रकम को प्राप्त करने से ऋण ग्रस्तता में वृद्धि हुई। पहले जहा सन् 1950-51 मे प्रति परिवार 47 रुपये का ऋणभार था वह बढ़कर सन् 1956-57 मे 88 रुपये हो गया।

उक्त दोनों जांच प्रतिवेदनों के परिणामों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि सन् 1950-51 की तुलना मे कृषक मजदूर परिवारों की सख्या मे कमी हुई है। रोजगार, आय एवं मजदूरी की दरों में गिरावट आई है। ऋण भार एवं निर्धनता की वृद्धि हुई है। ये सब परिणाम इनकी समस्या की गम्भीरता को प्रदर्शित करते है।

× आंकड़े उपलब्ध नहीं है।

कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि—

पिछले 70-80 वर्षों में कृषि श्रमिकों की संख्या एवं समस्याओं में वृद्धि हुई है। इनके वृद्धि के कारणों की जानकारी नीचे दी जा रही है—

कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के कारण

1. जनसंख्या में वृद्धि
2. भूमि पर जन भार में वृद्धि-उपविभाजन
3. कुटीर उद्योगों का पतन
4. सामाजिक कारण
5. शिक्षा का अभाव
6. अन्य कारण

1. भारतवर्ष में प्रतिवर्ष लगभग 125 लाख से जनसंख्या में वृद्धि हो जाती है। भारत में जनसंख्या वृद्धि की यही दर रही तो लगभग 45 वर्ष बाद भारत विश्व का सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश होगा। *इस तेज गति से बढ़ने वाली जनसंख्या ने कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि कर दी है।

2. भूमि पर जन भार में वृद्धि एवं उपविभाजन की समस्या ने भी कृषि श्रमिकों के इस वर्ग में संख्या की वृद्धि की है। ग्रामीण जीवन में अन्य व्यवसायों का अभाव होने से गांव की सम्पूर्ण जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर रहना चाहती है किन्तु भूमि के अभाव में अधिकांश व्यक्तियों को कृषि श्रमिक बन जाना पड़ता है।

3. कुटीर उद्योगों का पतन—कुटीर उद्योगों के पतन के कारण इन व्यवसायों में लगे कारीगर भी कृषि श्रमिक बन गये। लघु उद्योगों के अभाव में इन कारीगरों को कृषि के अतिरिक्त किसी भी व्यवसाय में रोजगार नहीं दिया जा सकता। इसलिये कृषि श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

4. सामाजिक कारण—वर्तमान ग्रामीण समाज में फैली हुई रूढ़ियों के कारण सामान्यतः भूमिहीन श्रमिक गाँवों को छोड़कर सामन्त

*आर्थिक समीक्षा, फरवरी, 5,1968—पृ. 15

व्यवसायों में रोजगार प्राप्त करने में हिचकिचाता है। परिणामस्वरूप गाँव में ही कृषि श्रमिक के रूप में अपने जीवन यापन का कार्य करता है।

5. शिक्षा का अभाव—हमारे समाज एवम् देश का सबसे बड़ा शत्रु अशिक्षा है। गावों में अशिक्षा के कारण अज्ञानता रूढ़िवादिता आदि के दलदल में फंसा व्यक्ति अपने को नहीं छुड़ा सकता और बाध्य होकर कृषि श्रमिक बन जाता है।

6. अन्य कारण—छोटे-छोटे खेतों के मालिक किसान पूंजी के अभाव में अपनी कृषि विकास योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर पाते। भाग्यवादी दृष्टिकोण एवम् ऋण ग्रस्तता ऐसे अन्य कारण हैं जिनसे भारतीय किसान केवल कृषि श्रमिक बन कर अपना जीवन यापन करता है।

उपरोक्त कारणों ने भारतीय कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि कर अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने तेजी से बढ़ने वाले कृषि श्रमिकों की संख्या के कारणों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सम्मिलित अधिकारों का नष्ट होना, सामूहिक उपक्रम का विघटन, जोतों का उपविभाजन, कुटीर उद्योगों का पतन, लगान लेने वालों की संख्या में वृद्धि, भूमि को गिरवी रखने तथा स्थानांतरित करने पर प्रतिबन्ध न होना। इन बातों ने छोटे काश्तकारों की स्थिति को दुर्बल बनाकर कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि कर दी है।"

कृषि श्रमिकों की समस्यायें—

जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है भारत में कृषि श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। आज जिन समस्याओं का सामना इन्हें करना पड़ रहा है वे हैं—बेकारी एवम् अर्द्ध-बेकारी, नीची मजदूरी, नीचा जीवन स्तर, ऋण ग्रस्तता, अशिक्षा, बेगार, कृषक दासता, काम के निर्धारित घण्टे एवम् प्रकृति, संगठन का अभाव, आवास समस्या, आदि।

सुझाव—कृषि श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि शीघ्र ही राज्य एवं समाज सेवी संस्थाएँ आवश्यक प्रयत्न करें। कृषि श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में निम्नांकित उपाय कारगर सिद्ध हो सकते हैं—

1. औद्योगिक विकास—देश में परम्परागत उद्योगों के पुनरुत्थान के अतिरिक्त मूल एवं भारी उद्योगों का विस्तार किया जाना परमावश्यक है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त जन शक्ति (Man power) का प्रयोग किया जा सकेगा।

2. वैज्ञानिक एवं गहरी कृषि को अपना कर भूमि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि की जानी चाहिये ताकि भूमि हीन श्रमिकों को भी उसके लाभ का समुचित भाग मिल सके।

श्रमिकों की स्थिति सुधारने हेतु उपाय

1. औद्योगिक विकास
2. वैज्ञानिक एवं गहरी कृषि
3. न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण
4. श्रमिकों के संगठन
5. अधिक रोजगार
6 कार्य-दशाओं में सुधार
7 शिक्षा व प्रशिक्षण
8. सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था
9 भूदान
10. सामुदायिक विकास का विस्तार

3. न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण संबंधी कानूनों का सख्ती से पालन कराया जाना चाहिये ताकि स्थायी एवं अस्थायी कृषि श्रमिकों को उचित मजदूरी मिल सके।

4. श्रमिकों के संगठन को प्रोत्साहन दिया जाय ताकि वे संगठन अपने सदस्यों के लिए उचित मजदूरी पर कार्य की व्यवस्था कर आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलायें।

5 अधिक रोजगार-ग्रामीण क्षेत्र में निर्माण कार्य, सिंचाई के लिए बांध एवं नहरों का निर्माण एवं अन्य कार्यों में

रोजगार के नये अवसर प्रदान किये जाने चाहिये ताकि इन श्रमिकों की अर्द्ध-रोजगार एवम् बेरोजगारी पर काबू पाया जा सके ।

6. कार्य दशाओं पर सुधार—इन श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं एवं कार्य करने की अवधि का उचित निर्धारण किया जाना चाहिये । महिला एवं बाल कृषि श्रमिकों को भारी कामों से मुक्ति दिलाने का यत्न किया जाना चाहिये ।

7. शिक्षा व प्रशिक्षण—शिक्षा का महत्व तो सर्व विदित है ही साथ में इन श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि ये अपने कार्य में अधिक दक्षता प्राप्त कर सकें ।

8. सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था बेकारी के दिनों में भरण-पोषण के लिए भत्ते की व्यवस्था कर दी जानी चाहिये । कार्य करते समय होने वाली दुर्घटनाओं की स्थिति में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था भी की जानी चाहिये ।

10. भूदान—देश में खून रहित सामाजिक क्रान्ति (Bloodless Social Revolution) का सूत्रपात सन् 1951 में श्री विनोबा भावे ने किया । न्याय और समानता के सिद्धान्त पर आधारित इस आंदोलन में भूमिपतियों से निर्धन एवं भूमि रहित श्रमिकों के लिए भूमि प्राप्त की जाती है । ऐसी प्राप्त भूमि को भूमिहीन या स्वल्पभूमि वाले किसानों में बाँट दिया जाता है । इस कार्यक्रम से इन भूमि रहित कृषि श्रमिकों की स्थिति में बहुत सुधार आया है । भूदान कार्यक्रम को अधिक व्यापक एवं गतिशील बनाया जाना चाहिये ।

11. सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का विस्तार—ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि श्रमिकों के कल्याण एवं समृद्धि के लिए सामुदायिक विकास कार्यों को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिये ।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि श्रमिक—

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ऐसे क्षेत्रों में जहाँ कृषि श्रमिकों की संख्या अधिक थी सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा स्थिति सुधारने के प्रयत्न किये गये । न्यूनतम मजदूरी, श्रमिक सहकारिताओं एवं

पुनर्वास योजनाओं के अतिरिक्त श्रमिकों के लिए सहकारी फार्म स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। परन्तु कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई।

द्वितीय योजना में कृषि श्रमिकों की कठिनाइयाँ दूर करने हेतु चार सूची कार्यक्रम हाथ में लिया गया। पहला प्रयत्न कृषि उत्पादन में वृद्धि कर वेतन दरों में बढ़ोतरी से संबंधित था। दूसरे, ग्रामीण एवं छोटे उद्योगों के विकास एवं विस्तार से अतिरिक्त रोजगार प्राप्त किये जायें। भूमि के पुन: वितरण, शिक्षा विस्तार एव अन्य कार्यक्रमों से कृषि श्रमिक के पद, क्षमता, प्रेरणा और योग्यताओं में वृद्धि करने का तीसरा कार्यक्रम अपनाया गया। चौथा प्रयत्न खेतिहर मजदूरों की रहने की स्थिति मे सुधार करने से सम्बन्धित है। दूसरी योजना काल में भूमि रहित श्रमिकों के पुनर्वास पर 5 करोड़ रुपये खर्च किये गये।

तृतीय योजना में ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर विशाल राशि विनियोग करने की व्यवस्था की गई थी। कृषि श्रमिकों के पुनर्वास पर केन्द्रीय सरकार द्वारा 8 करोड़ रुपये एवं राज्य सरकारों द्वारा 4 करोड़ रुपये खर्च होने की व्यवस्था थी। केन्द्रीय कृषि श्रम सलाहकार समिति की सलाह पर 50 लाख एकड़ भूमि पर 7 लाख परिवारों को बसाने की योजना बनाई गई। मार्च 1967 के अन्त तक दान में प्राप्त 42·7 एकड़ भूमि में से 12 लाख एकड़ भूमि का वितरण कर दिया गया है।*

सन् 1951 की जनगणना में कृषि श्रमिक उन्हें माना गया जो खेतों पर मजदूरी लेकर काम करें।

कृषि श्रमिक जाँचों के परिणाम—कृषि श्रम की प्रथम जाँच सन् 1950-51 मे व द्वितीय जाँच सन् 1956-57 में व एक अन्य जाँच सन् 1963 मे सम्पन्न हुई।

कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के कारण—

(i) जनसंख्या मे वृद्धि (ii) भूमि पर जन भार में वृद्धि—उप

*India 1969 p. 255

विभाजन (iii) कुटीर उद्योगों का पतन (iv) सामाजिक कारण (v) शिक्षा का अभाव (vi) अन्य कारण।

कृषि श्रमिकों की समस्यायें—

बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी, नीची मजदूरी, निम्न जीवन स्तर, ऋण ग्रस्तता, अशिक्षा, बेगार, कृषक दासता, काम के अनियमित घण्टे, संगठन का अभाव, आवास समस्या।

कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिये—

कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित उपाय जरूरी हैं—

(i) औद्योगिक विकास (ii) वैज्ञानिक एवं गहरी कृषि (iii) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण (iv) श्रमिकों के संगठन (v) अधिक रोजगार (vi) कार्य दशाओं में सुधार (vii) शिक्षा व प्रशिक्षण (viii) सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था (ix) भूदान (x) सामुदायिक विकास का विस्तार।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि श्रमिक—

प्रथम पंचवर्षीय योजना में—कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं,

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में—कृषि श्रमिकों की कठिनाइयाँ दूर करने के लिये चार सूत्री कार्यक्रम हाथ में लिया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में—विभिन्न कार्यक्रमों पर गौर किया गया।

प्रश्न

1. 'कृषि श्रमिक' से आप क्या समझते हैं। वर्तमान में कृषि श्रमिकों की संख्या क्यों बढ़ रही है?
2. कृषि श्रमिक जांच आयोगों द्वारा विभिन्न समस्याओं पर जो जांच की गई है उसकी आलोचना कीजिये।
3. भारत में कृषि श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए सुझाव दीजिये।

अध्याय 14

भारतीय औद्योगिक विकास का सामान्य सर्वेक्षण

GENERAL SURVEY OF INDUSTRIAL DEVELOPMENT OF INDIA

"ऊन, सूत या रेशम से निर्मित वस्तुएं जो अंग्रेज महिलाओं के वस्त्रों से लगाकर उनके फर्नीचर एवं घरों की सजावट से सम्बन्ध रखती थीं वे भारतीय उद्योगों द्वारा ही निर्मित थीं।"

घोकली रिव्यू

"उद्योगों के बिना कोई भी देश अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकता।" —श्री जवाहरलाल नेहरू

किसी भी देश के आर्थिक विकास में उद्योगों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारत एक अत्यन्त सुसभ्य एवं प्राचीन देश है, जिसके प्राकृतिक साधन अतुल एवं विशाल हैं। जब विश्व के उन देशों में, जो आज सबसे अधिक विकसित माने जाते हैं, जंगली जातियाँ निवास करती थीं भारतवासी उद्योग एवं कला-कौशल में बहुत आगे बढ़े हुये थे।

भारत का औद्योगिक अतीत—भारत का औद्योगिक अतीत हमारे लिए गौरव की वस्तु है। यहाँ के उद्योग धन्धे बहुत विकसित अवस्था में थे। हम अपने यहाँ से कई देशों को माल भेजते थे जिसका भुगतान स्वर्ण में मिलता था इसीलिए भारत को 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था। किन्तु अनेक कारणों से हमारे उद्योग धन्धों का पतन हो गया। ब्रिटिश सरकार की स्वतन्त्र व्यापार नीति (*Free trade Policy*) के परिणामस्वरूप हमारे यहाँ विदेशों से अनेक वस्तुएं आने लगीं। इस लिए हमारे वस्तुओं की मांग में कमी हो गई और विदेशों से सस्ते मूल्य में मशीन निर्मित वस्तुओं का आयात बढ़ गया। राजा महाराजाओं

का संरक्षण न रहने के कारण भी उद्योगों का पतन हुआ। हमारे विश्व प्रसिद्ध उद्योग धीरे-धीरे नष्ट होते गए और हमारा देश कृषि प्रधान देश बन गया। उद्योग धन्धों के अभाव में हमें कई कठिनाइयों का सामाना करना पड़ा।

अब यह बात सर्वमान्य है कि अर्द्ध-विकसित देशों को उन्नति के लिए औद्योगिक विकास ही एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत में भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कुछ उद्योग प्रारम्भ किये गये, किन्तु औद्योगिक विकास का असली प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध काल में हुआ।

प्रथम महायुद्ध (1914-19) में युद्ध की विभीषिका के कारण जनसाधारण दैनिक उपभोग की वस्तुओं के लिए कठिनाई महसूस करने लगा। भारत में यह अनुभव किया जाने लगा कि विदेशी उद्योगों पर निर्भरता बुरी है। सन् 1916 में नियुक्त औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने भी भारत में औद्योगिक विकास का सुझाव दिया। सन् 1917 में भारत सरकार ने म्युनिशन बोर्ड (Munition Board) की नियुक्ति की जिसने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न किये। युद्धकाल में भारतीय कपड़ा, जूट, चमड़ा, लोहा व इस्पात, तेल, तेजाब, सीमेंट, रंग, वार्निश आदि के कारखाने बने।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् कीमतों के कम होने से उद्योगों एवम् कृषि का ह्रास हुआ। विश्वव्यापी मंदी (Depression) के कारण भारतीय उद्योगों को जापान आदि देशों के बने माल से स्पर्द्धा करनी पड़ी। सन् 1930 में सूती वस्त्रोद्योग तथा सन् 1924 में लोहा तथा इस्पात उद्योग को संरक्षण (Protection) प्रदान किया गया।

सन् 1930 से 1939 तक की अवधि में भारतीय उद्योगों में नये जीवन का संचार हुआ। कपड़ा, सीमेंट, लोहा-इस्पात एवं जूट के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। संरक्षण नीति, नए कारखानों का निर्माण, स्वदेशी आंदोलन आदि कारणों से भारतीय उद्योगों का विकास हुआ।

द्वितीय महायुद्ध—(1939-45) के प्रारम्भ हो जाने से भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ी। युद्ध सम्बन्धी सामग्री का निर्माण बहुतायत से किया जाने लगा। सरकार ने उद्योगों की सहायता के लिए औद्योगिक अनुसंधान कोष की स्थापना की। सार्जेन्ट कमेटी की सिफारिश पर औद्योगिक प्रशिक्षण (Industrial Training) की व्यवस्था भी की गई। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध काल में पुराने उद्योग पनपे, नए प्रारम्भ हुए, नई प्रशिक्षण कला का विकास हुआ, मशीन के कल-पुर्जों के कारखाने मजबूरी से जम गये। • सन् 1940 में एक बोर्ड ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना हुई। कुल मिलाकर द्वितीय महायुद्ध के काल में भी भारतीय उद्योगों का विकास हुआ।

युद्धोत्तर काल में औद्योगिक विकास

(Post-war Industrial Development)—

युद्धकाल में कारखानों में क्षमता से अधिक कार्य होने से अनेक व्यवसायों में लगी मशीनें जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पहुँच गई। औद्योगिक उत्पादन में गिरावट आने के साथ-साथ मुद्रा-स्फीति (Inflation) के प्रभाव स्पष्ट नजर आने लगे। इसी समय देश का विभाजन (Partition) हुआ जिसने भारतीय औद्योगिक ढाँचे पर गहरा प्रभाव डाला। दिसम्बर सन् 1947 में त्रिदलीय सम्मेलन (Tri partite confrence) बुलाया गया (उद्योगपति, मजदूर व सरकार) जिसमें औद्योगिक समस्याओं पर विचार किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक सुनिश्चित योजना के आधार पर औद्योगिक विकास करने हेतु 6 अप्रेल सन् 1948 को भारत सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy) की घोषणा की गई। इस नीति ने औद्योगिक विकास के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) का आधार स्पष्ट कर दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक उत्पादन में 38 प्रतिशत की

• डॉ० पी० टॉमस

वृद्धि हुई । इस अवधि में वायुयान, डी. डी. टी., पेनिसिलीन, रेल के डिब्बों आदि का निर्माण प्रारम्भ किया । सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) में चितरंजन का कारखाना, सिन्दरी फर्टिलाइजर फैक्ट्री, इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज आदि की प्रगति संतोषजनक रही ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मूल एवं भारी (Basic and heavy) उद्योगों के विस्तार पर बल दिया गया । सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात के तीन कारखाने, भारी बिजली के सामान, भारी मशीन आदि के निर्माण कार्य सम्पन्न हुए । सीमेंट, कागज, रासायनिक उद्योग, टेलीफोन एवम् अन्य उत्पादन में काफी वृद्धि हुई । योजना के अन्त में सन् 1950-51 की तुलना में 94 प्रतिशत उत्पादन अधिक होता था । इस योजना में निर्धारित औद्योगिक उत्पादन के सम्पूर्ण लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके । इसका मुख्य कारण विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का संकट था ।

तृतीय योजना में औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों का उद्देश्य आगामी 15 वर्षों में तीव्र औद्योगीकरण की नींव डालना था । इस योजना में आधारभूत पूंजी एवं उत्पादक उद्योगों को प्राथमिकता दी गई । इस योजना में तकनीकी प्रशिक्षण पर भी बल दिया गया । इस योजना में उद्योग एवं खनिज विकास के लिए 2,993 करोड़ (सार्वजनिक क्षेत्र में 1,808 तथा निजी क्षेत्र में 1,185 करोड़) रुपये की व्यवस्था की गई । इस राशि में से 1,338 करोड़ रुपये के मूल्य की विदेशी विनिमय की व्यवस्था की गई । तृतीय योजना की अवधि में अनेक उद्योगों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक एवं खनिज विकास योजनाओं पर लगभग 3090 करोड़ रुपये विनियोग करने की व्यवस्था है ।* इस योजना में इस्पात, मशीन उत्पादन, उर्वरक, मशीनी औजार, रासायनिक पदार्थ आदि के उत्पादन विस्तार के लक्ष्य रखे गये ।

* Aspects of the Fourth Plan, Plan in outline, p. 5

औद्योगीकरण की आवश्यकता (Need for Industrialisation) कृषि प्रधान अर्द्ध-विकसित देशों की आर्थिक समृद्धि के लिए बड़े उद्योगों का विकास अत्यन्त आवश्यक है। अब यह भली प्रकार मान जा चुका है कि उद्योगों के बिना देश के आर्थिक विकास की बात सोचना ही व्यर्थ है। आज विश्व के सभी विकसित देश (Developed countries) औद्योगीकरण के ही बल पर विश्व में अपना ऊँचा स्थान बना पाए हैं। भारतवर्ष जैसे अर्द्ध-विकसित और निर्धन राष्ट्र के लिए भी बड़े उद्योगों द्वारा ही आर्थिक समृद्धि प्राप्त की जा सकती है।

भारत में कृषि पर जनसंख्या का जो अत्यधिक भार है उसे दूर करने, प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने, बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेकारी को समाप्त करने, कृषि विकास के लिए आवश्यक औजार, कीटाणुनाशक दवाइयाँ एवं रासायनिक उर्वरक जुटाने, पूंजी निर्माण और विनियोग को प्रोत्साहन देने, लोगों के उपभोग एवं जीवन-स्तर को बढ़ाने, देश की सुरक्षा के प्रयत्नों को मजबूत बनाने, देश को आत्म-निर्भर बनाने, विदेशों पर निर्भरता समाप्त करने, भुगतान सतुलन को अनुकूल बनाने एवं देश का सर्वांगीण विकास करने हेतु यह आवश्यक है कि हम बड़े उद्योगों का विकास करें।

उद्योगों के भेद (Kinds of Industry)—

उद्योगों को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जाता है* (अ) कुटीर उद्योग (*Cottage Industry*), (ब) लघु उद्योग (Small Scale Industry) तथा (स) वृहद् स्तरीय उद्योग (*Large Scale Industry*)।

---

* कुटीर एवं लघु उद्योगों के विस्तृत वर्ग एवं प्रसार के सम्बन्ध में नवमीं कक्षा की पुस्तक में विस्तार से पढ़ चुके हैं।

(अ) कुटीर उद्योग—कुटीर उद्योग वे हैं जो गाँवों में स्थित हैं, जो कृषि के सहायक धन्धे हैं तथा जिनमें अधिकतर कार्य हाथ से ही परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता से किया जाता है।

(ब) लघु स्तरीय उद्योग—सामान्यत: लघु उद्योग वे उद्योग हैं जिनकी पूंजी 5 लाख रुपये से कम है और जहां यन्त्रों की सहायता से 10 से 50 तक श्रमिक* कार्य करते हैं। भारतवर्ष में अब ये उद्योग काफी विकसित हो रहे हैं।

कुटीर उद्योग

(स) वृहत् स्तर के उद्योग—ये वे उद्योग हैं जिनमे बहुत-सी (5 लाख रुपये से अधिक) पूंजी के साथ अत्यधिक संख्या में श्रमिक द्वारा बहुत बडी मात्रा मे उत्पादन किया जाता है। भारतवर्ष मे सूती वस्त्रोद्योग, लोह एव इस्पात उद्योग तथा चीनी उद्योग कई वर्षों से बडे पैमाने पर चलाये जा रहे हैं। देश की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ एवं समृद्ध करने की दृष्टि से ये उद्योग महत्वपूर्ण है।

जहाँ एक ओर उद्योग कुटीर रोजगार प्रदान करने, कम पूंजी में काम चलाने, औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, कलात्मक वस्तुओं के निर्माण भूमि पर जनसंख्या के भार में कमी करने, उत्तम कोटि की वस्तुओं के निर्माण करने एवं सरल कार्य प्रणाली के लिए महत्वपूर्ण हैं. वहाँ दूसरी ओर वृहत् उद्योग अर्थ-व्यवस्था को गतिमान करने, देश में उत्पादन

* राजकोषीय आयोग, 1959-60 के अनुसार

बढ़ाने, उत्पादन की लागत कम करने, निर्यात की आवश्यकताओं को पूरा करने, राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने, दीर्घकाल में बेरोजगारी व अर्द्ध-रोजगारी को समाप्त करने, कृषि विकास के लिए आवश्यक उपकरण एवं दवाइयाँ जुटाने की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। बड़े उद्योगों की स्थापना के बिना वर्तमान आर्थिक स्पर्द्धा के युग में किसी भी देश का आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। स्वर्गीय नेहरू के अनुसार "देश में भारी उद्योगों के विकास का महत्व है। मैं तो कहूँगा कि भारी उद्योगों के बिना कोई भी देश अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकता। भारी उद्योग ही बुनियादी चीज हैं, बाकी सब उद्योग तो उनके बच्चे हैं।" इस प्रकार किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था में तीनों ही प्रकार के उद्योगों का स्थान महत्वपूर्ण होता है किन्तु आज के इस वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के युग में बृहत् उद्योगों का ही महत्व अधिक है।

भारत में औद्योगिक पिछड़ापन (Industrial Backwardness in India)—

औद्योगिक विकास का महत्व सर्व विदित होते हुए भी भारतवर्ष अभी औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। यद्यपि हमारे देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता देखते हुए औद्योगिक विकास की सम्भावनाएं बहुत हैं फिर भी हम इस दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। हम यहाँ उन समस्याओं का उल्लेख करेंगे जो औद्योगिक पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी हैं—

1. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव (Lack of Scienctific outlook)—भारतवासी प्राचीनकाल से ही वाणिज्यवादी रहे हैं। वे अब भी नये उद्योगों में विनियोग करने की अपेक्षा वाणिज्य (Commerce) को अधिक लाभदायी समझते हैं। इसके अतिरिक्त कृषि की प्रधानता, ग्रामों की व्यापकता आदि कारणों से भी उद्योगों के पक्ष में उचित वातावरण का निर्माण नहीं हो पाया।

औद्योगिक समस्याए
1. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव
2. पूंजी की समस्या
3. मशीनों के नवीनीकरण एवं प्रविधि सम्बन्धी समस्या
4. कच्चे माल की समस्या
5. विदेशी पूंजी की समस्या
6 श्रमिकों की समस्या
7. सरकारी नीति
8. प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोष
9. असन्तुलन की समस्या
10. औद्योगिक अशांति
11. शक्ति के साधनों की समस्या
12. प्रबन्ध की समस्या

2. पूंजी की समस्या (Problem of Capital)— हमारे देश मे राष्ट्रीय आय कम होने से पूंजी निर्माण की क्षमता कम है। बिना अधिक पूंजी के बड़े उद्योगों की स्थापना सम्भव नहीं है। यही कारण है भारत मे तीव्र औद्योगीकरण का अभाव है।

3. मशीनों के नवीनीकरण एवं प्रविधि सम्बन्धी समस्यायें (Problems of techniques and moderanisation of machines)—हमारे देश मे मशीनों की हालत अत्यन्त असन्तोषप्रद है। घिसी-पिटी इन मशीनों द्वारा उत्पादन किया जाता है जिससे उत्पत्ति की लागत (Cost of productions) बढ़ जाती है। (Techniques) तथा मशीनों की पुनर्स्थापना (Replacement) सम्भव नहीं है। इसलिए भारतीय उद्योगों का विकास रुका हुआ है।

4. कच्चे माल की समस्या (Problem of Raw material)—यद्यपि अधिकांश उद्योगों के लिए कच्चा माल हमारे देश में ही उपलब्ध हो जाता है फिर भी उत्तम किस्म का कच्चा माल हमें विदेशों से मंगाना पड़ता है। दूसरी ओर कच्चे माल की मूल्य सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण भी उद्योगों को क्षति उठानी पड़ती है।

5. विदेशी पूँजी की समस्या (Problem of foreign capital)—उद्योगों के यन्त्रीकरण तथा विदेशों से साज सामान मंगाने के लिये पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी की आवश्यकता होती है। भारत में पिछले 10-12 वर्षों से विदेशी पूंजी का संकट आया हुआ है। हम पर पहले ही विदेशी ऋण भार अधिक है। इसलिए और अधिक पूंजी हमें विदेशों से नहीं प्राप्त हो पा रही है।

6. कुशल श्रमिकों की समस्या (Problem of skilled Labour)—औद्योगिक विकास के लिए जहाँ एक ओर अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है वहाँ कुशल श्रमिकों की महत्ता भी कम नहीं है। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ अब भी अनेक व्यवसायों में प्रशिक्षित श्रमिकों एवं कर्मचारियों का अभाव है।

7. सरकारी नीति (Government Policy)—औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल औद्योगिक नीति, कर नीति, श्रम नीति एवं सटकर नीति का होना आवश्यक है। भारत सरकार की औद्योगिक नीति अब भी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। राष्ट्रीयकरण का भय भारतीय उद्योगपतियों द्वारा विकास योजनाओं के निर्माण में बाधा है। प्रगतिशील श्रम एवं कर नीतियों से पूंजीपतियों द्वारा किए जाने वाले पूँजी के विनियोग में कटौती हुई।

8. प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोष (Evils of managing Agency System)—प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा भारतीय औद्योगिक विकास में दिया गया योग भुलाया नहीं जा सकता किन्तु वर्तमान औद्योगिक ढाँचे में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोष सुविदित हैं। इनकी दोषपूर्ण कार्यप्रणाली औद्योगिक पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी है।

9. असन्तुलनों की समस्या (Problem of Imbalances)—भारतीय उद्योगों में अनेक प्रकार के असन्तुलनों की समस्या उत्पन्न हो गई है। क्षेत्रीय (Regional), निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में असन्तुलन (Sectoral imbalance) उत्पादक व उपभोग उद्योगों में असन्तुलन (Imbalance in Producers & Consumers Industries), आदि समस्याएँ भी तीव्र औद्योगीकरण के मार्ग में बाधाएँ हैं।

10. औद्योगिक अशान्ति (Industrial unrest)—बड़े उद्योगों की स्थापना के साथ साथ औद्योगिक अशान्ति में वृद्धि हुई है । मजदूरों और मालिकों में मधुर सम्बन्ध न होने के कारण उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

11. शक्ति के साधनों की समस्या (Problem of Power)—विश्व के अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए भारतीय उद्योगों की उत्पादन लागत कम करना आवश्यक है। बिना पर्याप्त मात्रा में सस्ते शक्ति के साधनों के भारतीय उद्योगों का विकास कठिन है। यद्यपि भारत में शक्ति के साधनों की सम्भावनाएं (Potentialities) बहुत हैं फिर भी उनके अनेक उचित विदोहन (utilization) के अभाव में उद्योगों के लिए कठिनाई उत्पन्न हो रही है ।

12. प्रबन्ध की समस्या (Problem of Organisation)—प्रबन्ध अभिकर्ताओं की दोषपूर्ण कार्यप्रणाली के साथ-साथ योग्य व प्रशिक्षित प्रबन्धों का भी अभाव है। प्रबन्धक की योग्यता का उद्योगों के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में प्रबन्धित उद्योगों में भी कुशलता की कमी (Inefficiency) दृष्टिगोचर होती है।

भारत में तीव्र औद्योगीकरण (Rapid Industrialisation) के लिए सुझाव—

हमारे देश में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक खनिज पदार्थ, कृषि जन्य कच्चा माल, शक्ति के साधनों की क्षमता, विस्तृत बाजार एवं जनशक्ति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। तीव्र औद्योगीकरण के लिए निम्नांकित उपाय काम में लाये जाने चाहिए—

1. प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग—खनिज पदार्थों का उपयोग औद्योगिक विकास के लिए किया जाना चाहिए। विस्तृत जल-शक्ति एवं वन सम्पदा का भी अधिकतम उपयोग कर औद्योगीकरण को बढ़ावा देना चाहिए।

2. पूंजी का सुप्रबन्ध—वर्तमान बचतों को विनिमय के लिए आकर्षण देने के साथ-साथ पूंजी निर्माण की क्षमता को बढ़ाया जाना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि पंचवर्षीय योजनाओं में पूंजी निर्माण की दर बढ़ाकर उद्योगों के लिए अधिकाधिक पूंजी जुटाने की व्यवस्था की जा रही है।

3. विदेशी पूंजी को प्रोत्साहन मूल और भारी उद्योगों के लिए विदेशों से साज सामान मंगाने के लिए अधिक से अधिक विदेशी पूंजी को आकर्षित किया जाना चाहिए। सीमित विदेशी पूंजी का अधिकाधिक लाभदायक उपयोग करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

4. अभिनवीकरण (Modernisation) के कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए ताकि उत्पादन की लागत में प्रभावपूर्ण कमी की जा सके। पिछले कुछ वर्षों से देश में अनेक वित्त निगम इस कार्य के लिए कारखानों को साख प्रदान कर रहे हैं।

5. सरकारी उद्योगों में दक्षता लाने के लिए प्रबन्ध को अधिक प्रभावी (Effective) बनाया जाना चाहिये।

6. औद्योगिक प्रशिक्षण—की समुचित व्यवस्था के लिए देश में औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाएं, मजदूर शिक्षण केन्द्र, आदि संगठनों का संचालन किया जाना चाहिए। भारत सरकार इस ओर बहुत प्रयत्नशील है।

7. उचित औद्योगिक श्रम एवं कर नीति—सरकार की नीतियों में किसी प्रकार की अनिश्चितता को स्थान नहीं होना चाहिए। सन् 1956 की औद्योगिक नीति ने अनेक अनिश्चितताओं को समाप्त कर भारतीय उद्योगपतियों में फिर से विश्वास को प्रतिष्ठित किया है।

8. अन्य प्रयत्न—औद्योगिक विकास के लिए उक्त प्रयत्नों के अतिरिक्त औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए श्रम कल्याण (Labour Welfare) कार्यक्रमों का संचालन किया जाना चाहिए। सार्वजनिक

व निजी क्षेत्रों के मध्य उचित समन्वय एवम् सहयोग स्थापित किया जाना चाहिए। यातायात के साधनों के विकास के अतिरिक्त क्षेत्रीय एवम् उद्योगों के मध्य विषमताओं को समाप्त किया जाना चाहिए। कुटीर एवम् लघु-उद्योगों का क्षेत्र सुस्पष्ट निर्धारित कर दिया जाना चाहिए।

प्रसन्नता की बात है कि आर्थिक नियोजन के पिछले 17 वर्षों में औद्योगिक विकास के सराहनीय प्रयत्न किये गये हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि भारत विकासशील (Developing) देशों में सबसे अधिक विकसित (Developed) है।* विकास की गति तीव्र करने के लिए हमें उद्योगों का और विस्तार करने की आवश्यकता है।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of Government of India)

यहाँ भारतीय उद्योगों के विकास के सदर्भ में भारत सरकार की औद्योगिक नीति का उल्लेख करना उचित ही होगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय उद्योगों के विकास के लिये सरकार की कोई उल्लेखनीय औद्योगिक नीति नहीं रही। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद ही हमारी राष्ट्रीय सरकार ने उद्योगों के विकास की नीति की घोषणा की। इस नीति में समय-समय पर आवश्यकतानुसार संशोधन किये गये।

सन् 1948 की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of 1948)—

सन् 1948 में भारत सरकार द्वारा अपनी औद्योगिक नीति (Industrial Policy) की घोषणा की गई। इस नीति की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है:—

1. वृहत् उद्योग—इन्हें चार भागों में बांटा गया—(अ) राज्य

---

*Indian Economy since Independence, H. Venktasubbiah, p. viii

अधिकृत क्षेत्र में तीन महत्वपूर्ण उद्योग रखे गए जिन पर सरकार का एकाधिकार होगा।

(ब) राज्य नियंत्रित (Controlled) क्षेत्र—इसमें छः आधारभूत उद्योग रखे गए जिनके राष्ट्रीयकरण के प्रश्न के बारे में सरकार 10 वर्ष बाद फिर से विचार करेगी।

(स) 'सी' श्रेणी में वे 20 उद्योग रखे गये जो उद्योगपतियों द्वारा चलाये जाएंगे और जिन पर सरकार का सामान्य नियन्त्रण एवम् नियमन रहेगा।

(द) शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र (Private) में रहेंगे।

2 लघु व कुटीर उद्योग—इस नीति के अन्तर्गत कुटीर व लघु उद्योगों को विकसित करने एवम् समन्वय के लिए विभिन्न संस्थाओं की स्थापना की घोषणा की गई।

औद्योगिक सम्बन्ध— मजदूरों एवम् मालिकों में अच्छे संबंध स्थापित करने की आवश्यकता पर भी इस नीति में जोर दिया गया।

4. विदेशी पूंजी—इस नीति में विदेशी पूंजी की सुरक्षा एवम् विनियोग की सुविधाओं का आश्वासन दिया गया।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इस नीति मिश्रित अर्थ व्यवस्था (Mixed Economy) के विचार को स्पष्ट किया। किन्तु इस नीति की घोषणा से औद्योगिक क्षेत्र में अनिश्चितता एवम् भय का वातावरण उत्पन्न हो गया। इसीलिए सन् 1956 में नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गई।

सन् 1956 की नवीन औद्योगिक नीति (New Industrial policy 1956)—

प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा से उत्पन्न भय एवम् अनिश्चितता के वातावरण को दूर करने के लिए सरकार ने कई महत्वपूर्ण कदम

उठाये। इनमें औद्योगिक (विकास एवं नियन्त्रण) अधिनियम, 1951 केन्द्रीय (औद्योगिक) सलाहकार समिति, 1952 का गठन तथा औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम संशोधन 1953 तथा 1955 की व्यवस्थाएं उल्लेखनीय हैं। इतना सब होने के बावजूद भी भारतीय गणराज्य के संविधान एवं द्वितीय योजना की आवश्यकताओं के अनुरूप नई औद्योगिक नीति की घोषणा करना वांछनीय हो गया। तदनुसार 30 अप्रेल सन् 1956 को तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति की मुख्य विशेषताएं ये हैं—

1. राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व—नवीन नीति में राज्य के नीति में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों (Directive principles) के अनुसार समाज की रचना करने के उद्देश्य से इस नीति में भारी उद्योगों व मशीन उद्योगों का विकास करने के लिए, जहाँ आवश्यक हो, सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया जाने का लक्ष्य रखा गया।

2. उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Industries)—(अ) वृहत्स्तरीय उद्योगों को चार के स्थान पर नवीन नीति में तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया। प्रथम अनुसूची (Schedule 'A') में उन 17 उद्योगों को सम्मिलित किया गया जिनके विकास का सम्पूर्ण दायित्व सरकार पर होगा। द्वितीय अनुसूची में वे बारह उद्योग सम्मिलित किये गये जिनके भावी विकास का उत्तरदायित्व सरकार पर होगा।

(आ) लघु तथा कुटीर उद्योग—नई नीति में इन उद्योगों को पूँजी, शक्ति के साधन एवम् तकनीकी सहायता देकर स्वावलम्बी बनाने की व्यवस्था का प्रस्ताव रखा गया।

3. सन्तुलित विकास—सभी क्षेत्रों में यातायात, जल एवम् शक्ति के साधनों की सुविधाएँ प्रदान कर क्षेत्रीय आर्थिक असमानताओं को दूर करने के प्रयत्न किये जायेंगे।

4. कर्मचारियों का प्रशिक्षण—नवीन नीति में औद्योगिक एवम् व्यावसायिक प्रशिक्षण सेवाओं के विस्तार की अनिवार्यता को महसूस किया गया।

5. औद्योगिक शांति—(Industrial rest) के लिए मजदूरों को भी विकास कार्य में साझेदार मानने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया।

6. विदेशी पूंजी—सन् 1948 की ही नीति के सम्बन्धित अंश को दोहरा दिया गया।

यद्यपि नवीन औद्योगिक नीति के विपक्ष में भी अनेक तर्क दिये जाते हैं फिर भी इस नीति की घोषणा के बाद भारतीय उद्योग एक सुदृढ़ आधार पर विकसित हो रहे हैं। भारत की औद्योगिक नीति में श्रमिकों के प्रशिक्षण (Training), सही आंकड़ों के संकलन (Collection of data) एवम् प्रबंध में श्रमिकों को हिस्सा देने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

सारांश

किसी भी देश के आर्थिक विकास में उद्योगों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है।

भारत का औद्योगिक अतीत—अतीत में यहाँ के उद्योग धन्धे बहुत विकसित अवस्था में थे। प्रथम महायुद्ध के कारण जन साधारण दैनिक उपभोग की वस्तुओं के लिए कठिनाई महसूस करने लगे। युद्धोपरान्त उद्योगों का ह्रास हुआ। सन् 1930 से 1939 तक में उद्योग में नये जीवन का संचार हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल में पुराने उद्योग पनपे, नये उद्योग प्रारम्भ हुये।

पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास—

प्रथम पंचवर्षीय योजना में—औद्योगिक उत्पादन में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में—मूल व भारी उद्योगों के विस्तार पर बल दिया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में—आधारभूत पूंजी एवं उत्पादक उद्योगों को प्राथमिकता दी गई।

औद्योगीकरण की आवश्यकता—बड़े उद्योगों के बिना आर्थिक विकास की बात सोचना ही व्यर्थ है।

उद्योगों के भेद—(1) कुटीर उद्योग (2) लघु स्तरीय उद्योग (3) वृहत् स्तर के उद्योग।

भारत में औद्योगिक पिछड़ापन—हमारे उद्योग पिछड़े हुए हैं क्योंकि—

(1) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव (2) पूंजी की समस्या (3) मशीनों के नवीनीकरण एवं प्रबन्ध सम्बन्धी समस्या (4) कच्चे माल की समस्या (5) विदेशी पूंजी की समस्या (6) श्रमिकों की समस्या (7) सरकारी नीति (8) प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोष (9) असन्तुलन की समस्या (10) औद्योगिक अशान्ति (11) शक्ति के साधनों की समस्या (12) प्रबन्ध की समस्या।

भारत में तीव्र औद्योगीकरण के लिए सुझाव—

(1) प्राकृतिक साधनों का समुचित प्रयोग (2) पूंजी का सुप्रबन्ध (3) विदेशी पूंजी को प्रोत्साहन (4) अभिनवीकरण (5) उचित प्रबन्ध (6) औद्योगिक प्रशिक्षण (7) उचित औद्योगिक श्रम एवं कर नीति (8) अन्य प्रयत्न।

भारत सरकार की औद्योगिक नीतियाँ—

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कोई उल्लेखनीय नीति नहीं थी—

सन् 1948 की नीति—वृहत् उद्योगों को चार भागों में बांटा गया। लघु उद्योगों के लिए विभिन्न संस्थाओं को खोलने की घोषणा की गई। संक्षेप में इसमें मिश्रित अर्थ व्यवस्था के विचार को स्पष्ट किया।

1956 की नवीन औद्योगिक नीति—

विशेषतायें—(1) राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का महत्त्व (2) उद्योगों का वर्गीकरण—वृहत् उद्योगों को तीन भागों में बांटा (3) सन्तुलित विकास (4) कर्मचारियों का प्रशिक्षण (5) औद्योगिक शांति (6) विदेशी पूंजी।

प्रश्न

1. "किसी भी देश के आर्थिक विकास में उद्योगों का अत्यन्त मह
पूर्ण स्थान होता है"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? य
हाँ तो क्यों ?
2. भारत में पंचवर्षीय योजना काल में हुये औद्योगिक विकास पर
निबन्ध लिखिये।
3. उद्योग कितने प्रकार के होते हैं ? लघुस्तरीय उद्योग से आप क
समझते हैं ? ऐसे कुछ प्रमुख उद्योगों का वर्णन कीजिये।
4. भारत के उद्योगों में पिछड़ापन क्यों है? इन्हें दूर करके तीव्र औद्
गीकरण हेतु भारत को क्या करना चाहिये ? सुझाव दीजिये।
5. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—
   (i) 1948 की औद्योगिक नीति
   (ii) 1956 की औद्योगिक नीति
   (iii) औद्योगिक समस्यायें।

अध्याय 15

आधुनिक भारतीय उद्योग

MODERN INDIAN INDUSTRIES

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पूर्वी द्वीप समूह में जमी हुई अपनी इच बहिन का ही अनुसरण किया। इसने देश के उद्योगों तथा व्यापार को चौपट कर दिया तथा भारतीय पदार्थों को यूरोप के बाजार से बाहर निकाल कर भारतीय चर्खे, हाथ करघे तथा उसके पहियों को चकनाचूर कर दिया।"

—कार्ल मार्क्स

वर्तमान वृहत् भारतीय उद्योगों में सूती वस्त्र, लोहा व इस्पात, चीनी, जूट, सीमेन्ट, रासायनिक पदार्थ, उर्वरक आदि का नाम उल्लेखनीय है। यहां हम कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों की प्रगति, वर्त्तमान स्थिति एवं समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

लोहा व इस्पात उद्योग (Iron and Steel Industry)

लोहा व इस्पात उद्योग किसी भी देश के तीव्र औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है। इसे औद्योगिक व्यवस्था में रीढ़ की हड्डी (Back Bone) कहा जाता है। देश की सुरक्षा, कृषि, उद्योग व यातायात के विकास में इस उद्योग का बहुत योगदान होता है।

इतिहास—भारतवर्ष में यह व्यवसाय अत्यन्त प्राचीनकाल से ही किया जाता है। कहा जाता है कि ईसा से 5,000 वर्ष पूर्व भी भारत वासी इस उद्योग का संचालन बहुत कुशलता पूर्वक किया करते थे। दिल्ली की कुतुबमीनार के पास बनी लोहे की कीली 1,500 वर्ष पूर्व लगाई गई थी। अशोक की लाट भी हमारे लोह और इस्पात उद्योग के प्राचीन गौरव की प्रतीक है। परन्तु लोह तथा इस्पात का बड़े पैमाने पर कार्य सन् 1907 में हुआ जबकि 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी
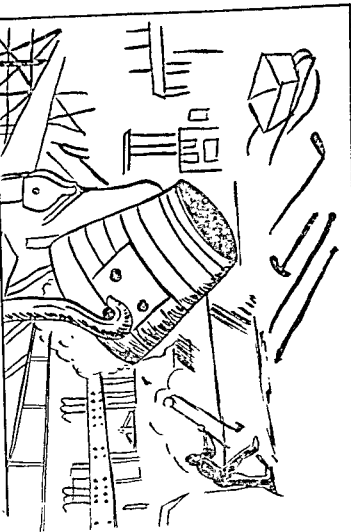
ने बिहार में कारखाना खोला। सन् 1908 में बंगाल में आसनसोल के निकट 'इण्डियन आयरन तथा स्टील कम्पनी' और सन् 1923 में भद्रावती (मैसूर) में मैसूर आयरन वर्क्स की स्थापना की गई। सन् 1924 में इन उद्योगों को संरक्षण (Protection) प्राप्त हो गया और सन् 1924 तक चलता रहा। इसी बीच सन् 1937 में 'बंगाल स्टील कॉर्पोरेशन' की स्थापना हुई। सन् 1952 में 'बंगाल स्टील कॉर्पोरेशन' और 'इण्डियन आयरन तथा स्टील कंपनी' का विलीनीकरण हो गया।

वर्तमान स्थिति*—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सार्वजनिक क्षेत्र में लोहा तथा इस्पात उद्योग का तेजी से विकास किया जा रहा है। द्वितीय योजना काल में सरकारी कम्पनी 'हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड' के प्रबन्ध से तीन कारखाने बनाए गये—

1 रूरकेला स्टील प्लांट (Rourkela Steel Plant)—उड़ीसा में पश्चिमी जर्मनी की सुविख्यात फर्म 'क्रुप्स' के सहयोग से बनाया गया। यह कारखाना अब 12 लाख टन इस्पात उत्पादन की क्षमता रखता है। 1968-69 में इसने 12·43 लाख टन कच्चा लोहा तथा 11·61 लाख टन इस्पात पिंड का उत्पादन किया। सन् 1962 में इस्पात कारखाने के निकट रासायनिक खाद का एक कारखाना भी चालू किया गया। रूरकेला स्टील प्लांट की इस्पात पिंड क्षमता सन् 1968 में बढ़ाकर 18 लाख टन कर दी गयी।

2 भिलाई (Bhilai) स्टील प्लांट—सोवियत रूस के सहयोग से मध्य प्रदेश में बनाये गये इस कारखाने में सन् 1668-69 में 19·35 लाख टन कच्चा धातु तथा 17·35 लाख टन इस्पात पिण्ड का उत्पादन किया।

3. दुर्गापुर स्टील प्लांट (Durgapur Steel Plant)—यह इस्पात का कारखाना पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर नामक स्थान पर सन् 1962 में बन कर तैयार हुआ। 1968-69 में इस कारखाने ने 9·58 लाख टन लोहा तथा 7·5 लाख टन इस्पात पिंड तैयार किया।

---

* India 1969, p. 326-27 पर आधारित

तृतीय योजना काल में इन कारखानों की उत्पादन क्षमता में बहुत विस्तार किया गया। 1965 में सोवियत रूस के साथ समझौता किया गया जिसके अन्तर्गत बोकारो (बिहार) में एक नया स्टील प्लांट बनाया जा रहा है। इस कारखाने का प्रथम चरण मार्च 1971 में बन कर तैयार होगा। रूस की सरकार ने 20 करोड़ रूबल* का ऋण विदेशों से साज सामान मंगाने के लिए स्वीकार किया है।

* लगभग 166·6 करोड़ रुपये।

अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में लोहा तथा इस्पात के छोटे-बड़े 167 कारखाने हैं जिनमें लगभग 131 करोड़ रुपये की चालू पूंजी लगी हुई है। इन कारखानों में लगभग 93 हजार व्यक्ति काम करते हैं। सन् 1967 मे 70·10 लाख टन कच्चा लोहा तथा 41·35 लाख टन इस्पात तैयार किया गया। सन् 1967-68 मे भारत ने 54·83 करोड़ रुपये के मूल्य का लोहा तथा इस्पात निर्यात (Export) किया।*

हमारे लोहा और इस्पात व्यवसाय की सार्वजनिक क्षेत्र में काफी उन्नति हुई है। उद्योग में उन्नत उत्पादन विधियों का प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया गया है। सन् 1949 में आस्ट्रिया में प्रतिपादित एल० डी० प्रक्रिया (L.D Process) का प्रयोग हमारे यहाँ भी प्रारम्भ कर दिया गया है, जो उत्पादन लागत में कमी करती है। वर्तमान वर्षों में इस उद्योग द्वारा विभिन्न वस्तुओं का निर्माण बढा है। पिछले कुछ वर्षों में रेल की भारी पटरियाँ, टिन, प्लेटें, तार, चद्दर, पहिये, एक्सल आदि अनेक वस्तुओं का भारी संख्या में निर्माण हुआ। इतना होते हुए भी यह उद्योग हमारी सभी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता।

उद्योग की समस्यायें, उपचार एवं प्रगति—देश मे इस उद्योग से सम्बन्धित सारी प्राकृतिक सुविधायें उपलब्ध होते हुए भी इस उद्योग के सामने निम्न समस्यायें हैं—

(1) **कोयले की कमी**—अच्छी किस्म के कोयले की कमी के कारण घटिया किस्म का कोयला प्रयोग में लाया जाता है, जिससे उत्पादन लागत बढ़ जाती है। अतः घटिया कोयले को उन्नत करने अथवा संपन्न भडार वाले लिग्नाइट के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिये। इस सम्बन्ध में कोयला साफ करने के लिए कारखाने खोले जा रहे हैं।

कच्चे माल की कठिनाई—उद्योगों के लिए अच्छी कोटि का कच्चा माल, जैसे उत्तम चूने का पत्थर आदि कारखानों के निकटवर्ती भागों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने से इन्हें दूर के क्षेत्रों से मगाना

*India 1969, p. 370

पड़ता है, जिससे उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। अतः यातायात का विकास आवश्यक है। सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत यातायात के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

समस्यायें

1. कोयले की कमी
2. कच्चे माल की कमी
3. पूंजी का अभाव
4. कुशल श्रमिकों तथा विशेषज्ञों की कमी
5. आधुनिक यत्रों की कमी
6. श्रम सम्बन्धी कठिनाइयाँ
7. मूल्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ
8. यातायात के साधनों का अभाव

(3) पूंजी का अभाव—इस्पात उद्योग के विस्तार एवम् अभिनवीकरण के लिए बहुत पूंजी की आवश्यकता है। भारत में पूंजी निर्माण की क्षमता कम होने से हमें अधिकतर विदेशी सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है और पूंजी के अभाव में पुरानी मशीनों से ही काम लेना पड़ता है। देश में पूंजी संचय को प्रोत्साहन देना चाहिये। सरकारी तथा विदेशी सहायता बहुत आवश्यक है।

(4) कुशल श्रमिकों तथा विशेषज्ञों की कमी—इस उद्योग को अधिक कुशल और लाभदायक बनाने के लिए (expert) एवं कुशल श्रमिकों की आवश्यकता है। विदेशों से अनेक विशेषज्ञों को बुलाना पड़ता है, जिससे विदेशी मुद्रा की समस्या उत्पन्न होती है। अतः इंजीनियरों को बाहर प्रशिक्षण के लिए अधिक संख्या में भेजना चाहिये और देश में श्रमिकों के लिए तीव्र गति से प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिये। अब तकनीकी प्रशिक्षण (technical training) के विकास हेतु प्रयत्न किए जा रहे हैं।

(5) आधुनिक यंत्रों की कमी—पूंजी तथा विशेषज्ञों की कमी के कारण अनेक लोहा और इस्पात कारखानों में आधुनिक तकनीकी वाले यन्त्र प्रयोग में नहीं लाये जाते जिससे उत्पादन क्षमता कम रहती है।

अतः उत्पादन की नवीन विधियों व आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग करना आवश्यक है ।

(6) श्रम सम्बन्धी कठिनाइयां—औद्योगिक अशान्ति के कारण उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है । सरकार को श्रम कल्याण के संबंध मे नियम पारित कर श्रम और पूंजी में सौहार्द्रपूर्ण वातावरण कायम करना चाहिये । इस सम्बन्ध मे सरकार महत्वपूर्ण कदम उठा रही है ।

(7) मूल्य सम्बन्धी कठिनाई—भारतीय इस्पात का 'निर्धारित मूल्य' समय-समय पर बदलता रहता है, जिसमे इस्पात की कीमतें अनिश्चित रहती हैं ।

(8) यातायात के साधनों का अभाव—कच्चा माल, कोयला आदि आवश्यक सामान कारखानों तक पहुँचाने व निर्मित माल को विभिन्न क्षेत्रों में ले जाने के लिए सुगम और सस्ते साधन उपलब्ध न होने से कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । सरकार यातायात के विकास पर बहुत ध्यान दे रही ।

अन्त मे कहा जा सकता है कि भारतीय लोहा एवं इस्पात उद्योग का भविष्य उज्जवल है क्योंकि हमारे यहां उद्योग के लिए आवश्यक सामग्री, जैसे कच्चा लोहा, मैंगनीज, डोलोमाइट (Dolomite) आदि बहुतायत से पाई जाती है ।

सूती वस्त्र उद्योग
COTTON TEXTILE INDUSTRY

"सूती उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव, वर्तमान एवं भविष्य का संदेह, किन्तु सदा की आशा है ।" —बुकनेन

यह उद्योग देश का सबसे बड़ा उद्योग है । सूत और वस्त्र उत्पादन की मात्रा देखते हुए भारत संसार मे तीसरे स्थान पर और सूत उपभोग की दृष्टि से दूसरे स्थान पर आता है ।

इतिहास—भारत का वस्त्रोद्योग प्राचीन काल मे बहुत उन्नत था । भारत कई देशों को अपने यहां के बने हुए वस्त्र भेजता था । यह व्यवसाय

उस समय कुटीर उद्योगों के रूप में चलाया जाता था । भारत में सर्व-प्रथम सगठित रूप में सूती वस्त्र के कारखाने की स्थापना सन् 1818 में कलकत्ता में हुई । किन्तु इस उद्योग की वास्तविक नींव सन् 1854 में पड़ी, जब कि बम्बई में सूती वस्त्र का कारखाना स्थापित किया गया। इसके बाद बम्बई, अहमदाबाद, नागपुर तथा शोलापुर में कई कपड़े बनाने के कारखाने खोले गए। प्रारम्भिक काल में इस उद्योग की प्रगति बहुत धीमी रही । सन् 1881 से प्रथम महायुद्ध के काल तक भारतीय सूती वस्त्र उद्योग तेजी से बढ़ा । स्वर्गीय राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के 'स्वदेशी आंदोलन' से उद्योग पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। विदेशी कपड़े के आयात में कमी हुई और देश में बने कपड़े की माँग में वृद्धि हुई ।
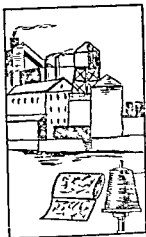
सूती वस्त्र उद्योग

प्रथम महायुद्ध काल—प्रथम महायुद्ध काल में अन्य उद्योगों में साथ साथ सूती वस्त्र का भी बहुत विकास हुआ । युद्धकाल में इस उद्योग की सफलता के पीछे सैनिक कपड़े की बढ़ी हुई माग और विदेशों से आयात न होने के कारण देशी कपड़ों की मांग मे वृद्धि हुई थी । युद्धकाल की यह समृद्धि अधिक दिनों तक न चल सकी । मंदी और जापान की बढ़ती हुई स्पर्धा के कारण भारतीय सूती कपड़े के व्यवसाय को बहुत धक्का लगा । इस काल में उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के अनेक झगड़े हुए । सरकार ने उद्योग की सहायता करने के लिए सन् 1926 में वस्त्रों पर से उत्पादन शुल्क (Excise duty) हटा लिया कुछ समय बाद सरक्षण की माग भी की गई । सन् 1927 में संरक्षण (protection) नीति

अपनाई गई, जिसमें विदेशी वस्त्र के आयात पर कर लगाया गया ।

द्वितीय महायुद्ध काल—द्वितीय महायुद्ध काल में भारतीय वस्त्रोद्योग को विकसित करने का सुनहरा अवसर मिला, चूंकि इंग्लैंड और जापान भारत को वस्त्र भेजने वाले दोनों ही देश, युद्ध के भवर में फंसे हुए थे अतः इस काल में कपड़े के उत्पादन और मूल्य दोनों में ही वृद्धि हुई। सन् 1943 में वस्त्रों का मूल्य चरम सीमा तक पहुँच गया। सरकार ने मूल्य-वृद्धि रोकने के कई प्रयत्न किए। मूल्य नियन्त्रण के अतिरिक्त वितरण पर भी नियन्त्रण कर दिया गया। सन् 1947 में देश के विभाजन के परिणामस्वरूप कपास उत्पादन करने वाले कई क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये इसलिए कच्चे माल की कमी अनुभव हुई। सन् 1947 में उद्योग की स्थिति कुछ सुधार आने से संरक्षण नीति को समाप्त कर दिया गया।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सूत और वस्त्र उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों से अधिक सफलता मिली। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वस्त्र निर्यात और प्रति व्यक्ति वस्त्र उपभोग के महत्वपूर्ण लक्ष्य रखे गए। इस योजना में 91·44 करोड़ मीटर वार्षिक वस्त्र निर्यात का लक्ष्य रखा गया था। योजना के अंत तक सूती वस्त्र के वार्षिक उत्पादन का लक्ष्य 775 करोड़ मीटर पर निर्धारित किया गया था जो पूरा हो गया है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सूती वस्त्र उत्पादन का वार्षिक लक्ष्य 865 करोड़ मीटर रखा गया था। वर्तमान कारखानों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के अतिरिक्त 25 हजार स्वचालित करघे लगाने का लक्ष्य रखा गया है।

चौथी योजना में 40 लाख तकुए, 25 हजार करघे लगाने का निश्चय किया गया है। देश में कपड़े की मशीनों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया जायगा। कपड़े के उत्पादन तथा निर्यात को भी प्रोत्साहन दिया जायगा। योजना की अवधि में अभिनवीकरण के लिए 132·5

करोड़ रुपया विकास योजनाओं के लिए 133.9 करोड़ रुपये खर्च किए जाने का अनुमान है।
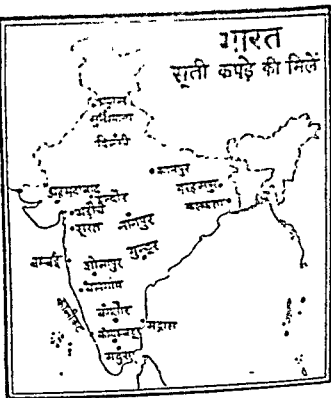
वर्तमान स्थिति*—देश के संगठित व्यवसायों में इसका स्थान सर्व प्रथम है। इस समय देश में 647 कारखाने हैं इनमें (358 केवल

*India 1969, p. 321

सूत कातने वाले हैं) जिनमें 174·5 लाख तकुए (Spindles) तथा 289 लाख करघे (Looms) लगे हुए हैं। प्रतिवर्ष 25 से 40 नए कारखानों की स्थापना होती है। इस क्षेत्र में सहकारी कारखाने भी स्थापित हो रहे हैं।

सन् 1968 में कारखानों द्वारा 436.61 करोड़ मीटर कपड़ा तथा 96·09 किलोग्राम सूत (Yarn) का उत्पादन हुआ।

उद्योग की समस्याएँ उपचार एवं प्रगति—

यद्यपि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का भविष्य उज्जवल है तथापि इसके सामने वर्तमान समय में कुछ गम्भीर समस्याएं हैं। इन समस्याओं को दूर किये जाने पर ही सूती वस्त्र उद्योग के विकास की आशा की जा सकती है। ये समस्यायें निम्नलिखित हैं—

1. **कच्चे माल की समस्या**—कपास की कमी उद्योग की सबसे गम्भीर समस्या है। भारत कपास में आत्म निर्भर नहीं है। देश के विभाजन ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया। लम्बे रेशे वाली उत्तम कपास हमें विदेशों से मंगानी पड़ती है।

वस्त्रोद्योग की समस्याए
1. कच्चे माल की समस्या
2. आधुनिकीरण की समस्या
3. विवेकीकरण की समस्या
4. निर्यात बढ़ाने की समस्या
5. उत्पादन समन्वय की समस्या

भारत सरकार कपास का उत्पादन बढ़ाने के लिए सक्रिय कदम उठा रही है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कपास उत्पादन के लिये विशेष लक्ष्य रखे गए हैं। सन् 1967-68 में 55·62 लाख गाँठ कपास का उत्पादन हुआ।*

2. **आधुनिकीकरण (Modernisation) की समस्या**—अधिकांश सूती कपड़े के कारखानों में लगी हुई मशीनें घिसी हुई हैं। उत्पादन बढ़ाने तथा उत्पादन लागत कम करने के लिए आधुनिकीकरण आवश्यक है। योजना आयोग ने उद्योग में आधुनिकीकरण को कुछ

*India 1969, p. 229

लागत का अनुमान 360 करोड़ रुपये लगाया है, जो देश के सामर्थ्य से बाहर है। भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम' की स्थापना की है जो आधुनिकीकरण योजना के अन्तर्गत खरीदने के लिए ऋण देता है।

3. विवेकीकरण (Rationalization) की समस्या—भारतीय सूती वस्त्रोद्योग का विकास विवेकपूर्ण वैज्ञानिक आधार पर नहीं हुआ है। इससे वस्त्र की उत्पादन लागत बढ़ती है। लगभग 125 कपड़े की छोटी अनार्थिक मिलों को पुन: संगठित करके उनमें विवेकीकरण अर्थात् सगठन और मशीनों से सम्बन्धित सुधार करने चाहिये। बेरोजगारी की समस्या को ध्यान में रखते हुए विवेकीकरण धीरे-धीरे करना होगा।

4. निर्यात बढ़ाने की समस्या—सूती वस्त्रों की निर्यात वृद्धि की समस्या गम्भीर रूप धारण कर रही है। जापान और पाकिस्तान से प्रतिस्पर्धा निरन्तर बढ़ रही है। कई कपास उत्पादन करने वाले देश भी अपने देशों में सूती वस्त्र के निजी कारखाने खोलना चाहते हैं जिससे हमारे कपड़े की विदेशों में माँग और कम हो जाएगी। अत: उत्पादन लागत कम करके नये-नये डिजाइन निकालकर विज्ञापन द्वारा निर्यात बढ़ाना चाहिये।

5. उत्पादन समन्वय की समस्या—सूती वस्त्र का उत्पादन कारखानों, हाथ करघों तथा शक्ति करघों द्वारा किया जाता है। इनमें समन्वय का अभाव है। अत: इन तीनों की स्पर्धा के स्थान पर समन्वय (Co-ordination) इस प्रकार किया जाय कि किसी भी क्षेत्र के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पड़े।

संक्षेप में, सूती वस्त्र उद्योग को पनपाने के लिए उत्पादन लागत को कम करना अति आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जबकि आधुनिकीकरण एवं विवेकीकरण कार्यक्रमों को तेजी से अपनाया जाय।

चीनी उद्योग (SUGAR INDUSTRY)

चीनी उद्योग भारतीय संगठित उद्योगों के क्षेत्र में दूसरा स्थान

रखता है। हमारा देश शाकाहारी प्रधान (Vegetarian) होने के कारण हमारे भोजन में चीनी का बहुत महत्व है। साथ ही चीनी विदेशी मुद्रा कमाने का भी महत्वपूर्ण साधन है।
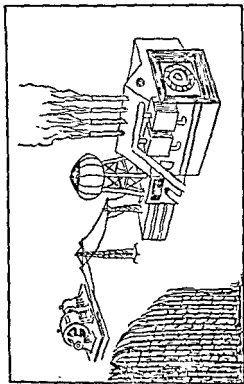
इतिहास—ऐसा समझा जाता है कि भारतवर्ष का चीनी व्यवसाय बहुत पुराना है। किन्तु पहले गुड़ और खाड़सारी उद्योग ही थे और

आधुनिक यंत्रों वाले कारखानों का सूत्रपात सन् 1930 के बाद ही अधिक तेजी से हुआ। इस समय भारत सरकार ने उद्योग के विकास के लिए संरक्षण (Protection) प्रदान किया। संरक्षण के परिणामस्वरूप बाहर से आने वाली चीनी की मात्रा में कमी हुई। संरक्षण के कारण ही अन्य उद्योगों की अपेक्षा चीनी उद्योग का सबसे अधिक विकास हुआ। इसीलिए कहा जाता है कि 'भारतीय चीनी उद्योग संरक्षण का बालक है।'(Indian Sugar Industry is the child of protection)

द्वितीय महायुद्ध काल में चीनी उद्योग को पुनः संरक्षण प्रदान किया गया। इस समय चीनी की कीमत बहुत बढ़ गई। अतएवं सरकार ने चीनी के मूल्य और वितरण पर नियंत्रण करना स्वीकार किया। यह उद्योग सन् 1950 तक सरकारी संरक्षण प्राप्त करता रहा। सन् 1931 से 1950 तक लगभग सारी अवधि मे चीनी उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। जहाँ सन् 1931 मे चीनी मिलों की संख्या 32 और उत्पादन 5 लाख टन था, वहाँ 1951 में यह संख्या बढ़ कर क्रमशः 141 और 14 2 लाख मी टन हो गई।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति—

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत चीनी उत्पादन का लक्ष्य 15·2 लाख मी. टन प्रतिवर्ष रखा गया, किन्तु मांग बढ़ जाने के कारण इसमें संशोधन करके 19·2 लाख मी. टन कर दिया गया। नए कारखाने खोले गये और चीनी उद्योग के विकास एव नियंत्रण के लिए 'चीनी विकास परिषद्' की स्थापना की गई। योजना के अन्त मे चीनी का उत्पादन 18 9 लाख मी. टन प्रतिवर्ष हो गया। इस अवधि में लगभग 15 करोड़ रुपये की पूंजी का और विनियोग (investment) इस व्यवसाय में किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में चीनी की क्षमता बढ़ा कर 25·4 लाख मी. टन कर देने का लक्ष्य था। उत्पादन बढ़ाने के लिए सहकारी चीनी मिलो (Co-operative Sugar Mills) की स्थापना के लक्ष्य रखे गये। इस अवधि मे चीनी मिलों में आधुनिक

कीकरण एवं विवेकीकरण को प्राथमिकता (Priority) दी गई। योजना के अन्तिम वर्ष में चीनी का उत्पादन 26·4 लाख मी. टन हुआ। इस अवधि में चीनी उद्योग विकास पर 10 करोड़ रुपया खर्च किया गया। इस अवधि में उत्पत्ति बढ़ जाने से चीनी का निर्यात भी किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—के अन्त में चीनी के उत्पादन का वार्षिक लक्ष्य 35·6 लाख मी. टन पर निर्धारित किया गया था। योजना आयोग ने यह तय किया है कि चीनी के निर्यात को बढ़ाया जाय।

वर्तमान स्थिति—सन् 1967-68 में भारतवर्ष में चीनी मिलों की संख्या 200 थी। अनुमान है कि इस उद्योग में $1\frac{1}{2}$ लाख श्रमिक काम कर रहे हैं। इस उद्योग से सरकार को 65 करोड़ रुपए की वार्षिक आय होती है और इसमें 100 करोड़ रुपये की कार्यशील पूँजी लगी हुई है। सन् 1967-68 में शक्कर का उत्पादन 22·48 लाख टन हुआ।* इसी वर्ष में देश से शक्कर का निर्यात सन् 1966-67 की अपेक्षा 1·70 लाख टन कम किया गया। यह उद्योग लगभग 2 करोड़ कृषकों से गन्ना खरीद कर राष्ट्रीय आय में 5% योगदान देता है। सन् 1963 में चीनी उत्पादन और गन्ने के मूल्य की कठिनाइयों के कारण चीनी का राशन कर दिया गया था। अब आंशिक नियन्त्रण की नीति अपनाई गई है। इस उद्योग का लगभग एक चौथाई भाग सहकारी क्षेत्र (Co-operative Sector) में है। यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित है।

उद्योग की समस्यायें एवं उपचार

चीनी उद्योग की कुछ गंभीर समस्याएँ हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है।

*India 1969, p. 324

चीनी उद्योग की समस्याएँ
1. गन्ने की कमी
2. गन्ने की कीमत सम्बन्धी कठिनाइयाँ
3. गन्ने की घटिया किस्म
4. गन्ना पेरने का अल्प समय
5. गन्ने का दोषपूर्ण वितरण
6. कृषि पक्ष और निर्माण पक्ष में अन्तर
7. अनार्थिक उत्पादन इकाइयाँ
8. आधुनिकीकरण की समस्या
9. ईंधन की समस्या
10. उद्योग का स्थानीकरण
11. उपोत्पत्ति के उपयोग का अभाव
12. चीनी का संकट

1. गन्ने की कमी—अन्य देशों की तुलना में यहाँ गन्ने का उत्पादन बहुत कम है। भारत में गन्ने की प्रति हैक्टर उपज 35·4 मी. टन है। यह औसत क्यूबा की तुलना में एक तिहाई, जावा की तुलना में चौथाई तथा हवाई (Hawaii) की तुलना में पाँचवा भाग है। गन्ने की कमी का सीधा प्रभाव चीनी उद्योग पर पड़ता है।

अतः गन्ने के उत्पादन को बढ़ाने के प्रयत्न किये जाने चाहिए। इसके लिए सिंचाई की सुविधाएँ, उत्तम बीज, खाद, औजार, कीटाणु नाशक औषधियाँ, भूमि क्षय की रोक आदि सुविधाएँ आवश्यक हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में गन्ना उत्पादन वृद्धि पर ध्यान दिया जा रहा है। चौथी पंचवर्षीय योजना में भी कृषि विकास पर बहुत बल दिया जाएगा।

2. गन्ने की कीमत सम्बन्धी कठिनाइयाँ—हमारे यहाँ जावा और अन्य चीनी उत्पादक देशों की तुलना में गन्ने की कीमत अधिक है। परिणामस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ जाती है। क्योंकि गन्ने की कीमत में कमी होना खेती के विकास पर निर्भर करता है, इसलिये इस दिशा में सहकारी प्रयत्न करने चाहिए।

3. गन्ने की घटिया किस्म—गन्ने की कीमत तो अधिक है ही साथ ही साथ गन्ने से प्राप्त होने वाली चीनी का प्रतिशत भी बहुत कम

। भारत में 100 मी. टन गन्ने से 6 मी. अर्थात् 6% चीनी प्राप्त होती है, जहाँ कि आस्ट्रेलिया में 14% जावा मे 11% क्यूबा और मोरिशस में गन्ने से 12% चीनी प्राप्त होती है। गन्ने की किस्म सुधारने के लिए गहरी खेती, उत्तम खाद, बीज, औजार, सिंचाई आदि सुविधाएँ दी जानी चाहिए। सरकार इस ओर प्रयत्नशील है।

4. गन्ने पेरने का अल्प समय—हमारे यहाँ वर्ष में औसतन

110 दिन का गन्ना पेरने का कार्य होता है, जबकि अन्य देशों में 240-250 दिनों तक गन्ना पेरने का कार्य होता है। इससे भारतीय चीनी उत्पादन लागत बढ़ जाती है। अतः अनुसंधान करके गन्ना पेरने की अवधि में वृद्धि की जानी चाहिए। इसके लिए आगे-पीछे फसल उगाने पर खोज की जानी चाहिए।

5. गन्ने का दोषपूर्ण वितरण—कई कारखाने ऐसे क्षेत्रों में स्थित हैं जहाँ गन्ना बहुत कम पैदा होता है। फलस्वरूप उन कारखानों को दूर-दूर से गन्ना मंगाना पड़ता है, जिससे ढुलाई खर्च बढ़ जाता है अतः उन्नत यातायात के साधनों के अतिरिक्त देश के सभी भागों में गन्ना उत्पादन के विशेष कार्यक्रम तैयार किए जाने चाहिए।

6. कृषि पक्ष और निर्माण पक्ष में अन्तर—हमारे यहाँ गन्ना उत्पादन एवं चीनी निर्माण कार्य अलग-अलग पक्षों द्वारा किया जाता है। चूँकि इन दोनों में समन्वय की कमी है, इसलिए कारखाने गन्ने की मात्रा एवं उत्तमता को नियमित नहीं कर सकते। अतः विश्व के अन्य चीनी उत्पादक देशों की भाँति दोनों पक्षों में उचित तालमेल बिठाना चाहिए, सहकारी चीनी मिलों द्वारा यह कार्य अधिक सरलता से हो जायगा।

7. अनार्थिक उत्पादक इकाइयाँ (Uneconomic Units)—कई चीनी कारखाने ऐसे हैं जिनकी उत्पादन क्षमता बहुत कम है और ये चीनी उत्पादन लागत को बढ़ा देते हैं। एकीकरण, अभिनवीकरण तथा विवेकीकरण पद्धतियों द्वारा इस शेष दोष को दूर करना चाहिए।

8. आधुनिकीकरण की समस्या—भारत में अधिकांश मिलें अनार्थिक इकाइयों के रूप में हैं। पुरानी उत्पादन पद्धतियों और घिसी हुई मशीनों के प्रयोग से उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप विदेशों को भारतीय चीनी मँहगी पड़ती है जिससे निर्यात में बाधा आती है। अतः इनमें आधुनिकीकरण आवश्यक है। "राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम" इस ओर प्रयत्नशील है।

9. ईंधन (Fuel) की समस्या—चीनी मिलों में बहुधा गन्ने का छिलका (begasee) जलाया जाता है। किन्तु यह अपर्याप्त मात्रा में है। अतः विद्युत के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिये। योजनाओं के अन्तर्गत जल विद्युत शक्ति के विकास पर बल दिया जा रहा है।

10. उद्योग का स्थानीयकरण—समूचे उद्योग के लगभग 75 प्रतिशत कारखाने उत्तर प्रदेश तथा बिहार में स्थित हैं तथा उनमें चीनी की खपत बहुत कम है; जबकि बम्बई व मद्रास में चीनी की माँग अधिक है, लेकिन वहाँ चीनी उत्पादन के कारखाने नगण्य हैं। कारखानों के एक ही स्थान पर केन्द्रीयकरण होने से यातायात व्यय बढ़ जाता है। अतः देश के सभी भागों में चीनी के कारखानों का विस्तार करना चाहिए। सहकारी क्षेत्र में इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

11. उपोत्पत्ति के उपयोग का अभाव—चीनी कारखानों की उपोत्पत्ति (by products) का समुचित उपयोग नहीं किया जा रहा है। परिणाम स्वरूप उत्पादन लागत बढ़ी हुई है। गन्ने का छिलका (begasee) कागज तथा गत्ता बनाने के काम में लिया जा सकता है। इसके अलावा भारी मात्रा में जमा होने वाला शीरा (Molases) को अलकोहल (alcohol), उर्वरक (fertilizers), ढोरों के भोजन व अन्य उपयोग में लाया जा सकता है।

12. चीनी का संकट—पिछले कुछ वर्षों से घरेलू उपयोग के लिए चीनी का संकट चल रहा है। मूल्य भी बढ़ गए हैं। सरकार ने स्थिति सुधारने के लिए चीनी का मूल्य नियन्त्रण तथा राशन कर दिया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि चीनी उद्योग को उन्नत दिशाओं में विकसित करने पर ही निर्यात बढ़ाया जा सकेगा। हमारे यहाँ प्रति व्यक्ति चीनी का उपभोग 3.2 कि. ग्राम प्रति वर्ष है जबकि अन्य देशों में इससे कई गुनी खपत है।

4. जूट उद्योग (Jute Industry)—

इस उद्योग की उपयोगिता राष्ट्र के जीवन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह हमारे लिये विदेशी विनिमय भी प्राप्त करवाता है। भारत को प्रारम्भ से ही इस उद्योग में एकाधिकार (monopoly) प्राप्त रहा है। वस्तुओं को पैक करने, नौकाओं व जलपोतों पर पाल का काम करने, मोटे-मोटे रस्सों के द्वारा वस्तुओं को बाँधने में जूट का प्रमुख स्थान है।

प्रारम्भिक काल—जूट के अधिकांश कारखाने हुगली के तट पर कलकत्ता के चारों ओर केन्द्रित हैं। यद्यपि जूट की खेती प्राचीनकाल से होती आ रही है, किन्तु इसका निर्यात व्यापारिक पैमाने पर 16 वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ आरम्भ होता है। सन् 1854 में जब रूसी पाट का निर्यात बन्द हो गया तो एक अंग्रेज उद्योगपति आकलैण्ड ने सेरामपुर के पास रिशरा नामक जगह पर जो बंगाल में है, पहली जूट की मिल की नींव डाली। इससे अन्य लोगों को भी प्रोत्साहन मिला और फिर बोर्नियों कम्पनी की स्थापना सन् 1859 में हो सकी। पहले 30 वर्षों में विकास की गति मन्द रही। सन् 1868 से सन् 1873 तक मिलों ने खूब लाभ कमाये, इसलिये और भी मिलें खुलने लगीं और 30 मिलों में मजदूरों की संख्या 20,000 तक पहुँच गयी। इनमें से 16 मिलें बम्बई के पास केन्द्रित थीं। निर्यात बढ़े और सन् 1885 में जूट के बोरों की जगह जूट के कपड़ों का उत्पादन बढ़ा। सन् 1900 के बीच एक अकाल पड़ा, जिससे उद्योग को धक्का लगा लेकिन 20 वीं शताब्दी के आरंभ में कृषि की उन्नति के साथ-साथ इस उद्योग ने भी उन्नति की। सन् 1906 में फिर उद्योग में शिथिलता आई क्योंकि जर्मनी और अमेरिका में जूट और पाट के कई स्थानापन्न (Substitutes) ढूंढे जाने लगे।

प्रथम महायुद्ध व उद्योग—युद्ध काल में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और रूसी सन का निर्यात बन्द हो गया। अतः भारत के इस उद्योग को लाभ पहुँचा व प्रोत्साहन मिला। सन् 1918 तक जूट की खपत 55 लाख गाँठ प्रतिवर्ष हो गयी, जब कि यह माँग युद्ध के पहले

44 लाख गांठ थी। इस अवधि में उद्योगपतियों ने 55% से 60% तक लाभ कमाया।

युद्ध के बाद मांग गिरने से निर्यात कम हुए। मजदूरों ने मजदूरी की वृद्धि की मांग की और अवसाद (Depression) का समय आया। सन् 1929 की महान आर्थिक मंदी का संकट भी आया लेकिन संगठन अच्छा होने के कारण उद्योग इस संकट को झेल सका।

द्वितीय महायुद्ध काल व उद्योग—युद्ध से उद्योग को एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। जूट की मांग बढ़ने से मासिक उत्पादन सन् 1939 में 90,700 टन से बढ़कर सन् 1940 में 1,25,700 टन हो गया। यह उद्योग का नया रिकार्ड था। युद्ध के प्रथम वर्ष में मिलों की संख्या 107 तक पहुँच गयी जिनमें 98 बंगाल, 3 उत्तर प्रदेश, 3 बिहार, 2 मद्रास और एक मध्य प्रदेश में स्थित थी।

विभाजन व उद्योग—सन् 1947 में देश के विभाजन ने इस उद्योग पर सबसे अधिक भारी प्रभाव डाला। पाकिस्तान को 63·4% कच्चे जूट उत्पादन का भाग मिला और भारत में 113 मिलें रह गयीं। बाद में बिहार, उड़ीसा व उत्तर प्रदेश की मिट्टी पर परीक्षण हुए और वहाँ उत्पादन एवं प्रचार हुआ। इस समय देश में 88 जूट मिलें हैं।

जूट उद्योगों की वर्तमान स्थिति—प्रथम योजना में उद्योग ने आशातीत सफलता प्राप्त की और जूट के सामान का उत्पादन 11·1 लाख टन था। सन् 1955-56 में जूट के समान का निर्यात 8,75,000 टन था। सन् 1951-52 में कोरिया के युद्ध ने निर्यात को प्रोत्साहन दिया। सन् 1960 में 84,000 टन कच्चे जूट का निर्यात किया गया। द्वितीय योजना में कच्चे जूट का उत्पादन लक्ष्य 40 लाख गाँठें रखा गया था। तृतीय योजना में 72 लाख तथा चौथी योजना में 110 लाख गाँठें रखा गया है। इसी उद्देश्य से 21 जिलों में गहरी खेती कार्यक्रम प्रारम्भ हो चुका है। सन् 1966-67 में 283·53 करोड़

रुपये के मूल्य की जूट वस्तुओं का निर्यात हुआ।* सन् 1968 में जूट निर्मित माल का उत्पादन 10·85 लाख टन हुआ।†

उद्योग की समस्यायें तथा सुझाव (Problems and Suggestions)

1. कच्चे माल का अभाव (Shortage of raw material)—कच्चे माल का अभाव देश-विभाजन के साथ ही प्रारम्भ हुआ। इस अभाव को दूर करने के लिये नये क्षेत्र उत्पादन के लिए ढूंढे गये। किन्तु जलवायु एवं मिट्टी की विभिन्नता के कारण आशाजनक सफलता न मिली। जूट का उत्पादन बढ़ा तो अवश्य किन्तु किस्म निम्न कोटि की ही रही। अतः उच्च कोटि का जूट अब भी आयात करना पड़ता है। जूट आयोग (Jute commission) ने उत्पादकों को उचित मूल्य देने की सिफारिश की ताकि लोगों को प्रोत्साहन मिल सके। पटसन समिति के अध्यक्ष श्री एन सी. श्रीवास्तव ने कहा कि जूट के सामान की वर्तमान लागत को देखते हुए यह आशा की जाती है कि सन् 1970-71 तक 10 लाख 41 हजार टन और सामान की खपत होने लगेगी।

2. निर्यात सम्बन्धी समस्या (Problem of export)—जूट उद्योग की दूसरी समस्या निर्यात के साथ जुड़ी हुई है क्योंकि भारत अपने कुल जूट के निर्यात का 8·9% अकेले पश्चिमी यूरोप को निर्यात करता है। अतः खपत बढ़ाने के लिए इन देशों की सहायता से एक लम्बी अवधि का निर्यात कार्यक्रम तैयार करना चाहिये। साथ ही साथ जापान, थाईलैण्ड, बर्मा, फ्रांस, इंगलैंड और बेल्जियम में जूट मिलों की स्थापना और उत्पादन किया जा रहा है। विदेशों में जूट के स्थानापन्न निकल पड़े हैं। स्वयं पाकिस्तान एक सबल प्रतिद्वन्दी के रूप में हमारी टक्कर में खड़ा है। इन सब परिस्थितियों में आवश्यकता इस बात की है कि निर्यात बढ़ाया जाय और उच्च कोटि का माल तैयार हो। इसके लिये पटसन समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि अच्छी जूट की ऐसी व्यवस्था की जाये जिसके अनुसार किसी संस्था या संगठन को पटसन का अतिरिक्त स्टाक रखने का काम सौंपा जाए।

* India 1969, p. 370
† India 1969, p. 323

3. अभिनवीकरण की समस्या (Problem of modernisation)– अभिनवीकरण की समस्या जो भारत के सभी उद्योगों के साथ दिखलाई पड़ती है, बड़ी गम्भीर है। नई मशीनों द्वारा बनाया हुआ माल सस्ता और अच्छा होने के कारण ग्राहकों को जल्दी आकर्षित कर लेता है। अतः इस उद्योग में अभिनवीकरण आवश्यक है। इसके लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम विभिन्न प्रकार की वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

सीमेण्ट उद्योग (Cement Industry)

मानव की तीन प्रमुख आवश्यकताएं हैं—भोजन, वस्त्र तथा मकान। भवन निर्माण कार्य के लिए सीमेन्ट की आवश्यकता होती है। बाँध, सड़कें एवं अन्य निर्माण कार्यों में भी सीमेंट का महत्व सुविदित है।

इतिहास—सीमेन्ट उद्योग बहुत प्राचीन व्यवसाय नहीं है। सर्व प्रथम सीमेन्ट बनाने का कार्य सन 1904 में मद्रास में हुआ किन्तु इसका वास्तविक प्रारम्भ सन् 1912-13 में हुआ जब विशाल पैमाने पर तीन कम्पनियों का निर्माण हुआ। प्रथम महायुद्ध से इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। सन् 1923 तक भारत में 10 सीमेण्ट कम्पनियाँ खुल गईं। इसी समय सीमेण्ट उद्योगपतियों ने अपने हितों की रक्षा के लिए "इण्डियन सीमेन्ट मेन्यूफेक्चरर्स एसोशिएशन" की स्थापना की। सन् 1936 में व्यवसायिक स्पर्द्धा के निवारणार्थ एसोसिएटेड सीमेण्ट कम्पनीज (A.C.C.) लि॰ का गठन हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल में इस व्यवसाय की उन्नति हुई।

विभाजन (1947) के समय भारत में 18 कारखाने रह गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) के अन्त में सीमेन्ट का उत्पादन 47 लाख टन हुआ।

द्वितीय योजना—के अन्त मे सीमेन्ट का उत्पादन 79 लाख टन तथा तृतीय योजना के अन्त में 110 लाख टन हो गया। सन् 1965 में
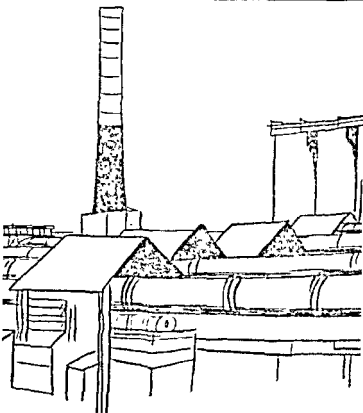
सीमेंन्ट उद्योग

सार्वजनिक क्षेत्र में सीमेंट उद्योग के लिए अनुसंधान, प्राविधिक सलाह तथा उत्पादन इकाइयों की स्थापना के लिए 'सीमेंट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया' का गठन किया गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सीमेंट की उत्पादन क्षमता लगभग 230 लाख टन हो जाने का अनुमान है। सन् 1962 मे मिलावट रोकने के लिए अध्यादेश जारी किया गया। सन् 1966 के प्रारम्भ में मूल्य एवं वितरण पर से सरकारी नियन्त्रण हटा लिया गया। पुनः नियन्त्रण लगाया गया परन्तु सन् 1970 मे नियन्त्रण हटा लेने का निश्चय किया गया है।

वर्तमान स्थिति—इस समय सीमेंट उद्योग मे लगभग 55 हजार श्रमिक काम करते हैं। उद्योग में लगभग 115 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक प्रयोग केवल 18 ग्राम● है जिसकी भविष्य मे काफी बढ़ जाने की सम्भावना है। सन् 1968-69 में सीमेण्ट का वार्षिक उत्पादन 122 लाख टन† था।

भारतीय सीमेंट उद्योग को भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है कुछ मुख्य समस्याएं हैं—मूल्य सम्बन्धी, पूंजी की कमी, प्रतिस्थापित क्षमता (Installed Capacity) का अपूर्ण उपयोग, कच्चे माल व यातायात की कठिनाइयां।

इन समस्याओं के निराकरण के लिए मूल्य नियंत्रण, आर्थिक सहयोग मशीनों के आयात की व्यवस्था, विदेश नियन्त्रण, कोयले की नियमित पूर्ति तथा सरकार की लाइसेन्सिंग पद्धति को व्यवहारिक बनाया जाना चाहिये।

रेशमी वस्त्रोद्योग (Silk Industry)—यद्यपि यह 19 वीं सदी

● कुछ अन्य देशों में यह औसत है—ब्रिटेन 206 कि. ग्राम, जापान में 226 कि० ग्रा०, जर्मनी मे 259 कि० ग्रा०, अमेरिका मे 272 कि० ग्रा० तथा स्विटज़रलैंड मे 386 कि० ग्रा०

† India 1969, p. 324

अब तक हम चमड़ा और खालें निर्यात करते थे किन्तु अब देश में ही चमड़े का सामान बनाने का धन्धा विकसित हो जाने के कारण यह निर्यात धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात तथा मद्रास में यह व्यवसाय अधिक उन्नत है। यह व्यवसाय निजी क्षेत्र के ही नियन्त्रण में है।

11. कागज उद्योग (Paper Industry)—देश में पहला कारखाना 1870 में खोला गया। यह व्यवसाय सार्वजनिक क्षेत्र में भी किया जाता है। मध्य प्रदेश का नेशनल न्यूज प्रिंट एण्ड पेपर मिल्स, नेपानगर सार्वजनिक क्षेत्र का कारखाना है। सन् 1968 में कागज तथा बोर्ड का उत्पादन लगभग 6.35 लाख टन हुआ।*

12. वनस्पति तेल उद्योग (vegetable oil Industry)—वनस्पति तेलों का वार्षिक उत्पादन लगभग 29 लाख टन माना जाता है। देश में लगभग 55 कारखाने, महाराष्ट्र, गुजरात, प० बंगाल, मैसूर आदि राज्यों में स्थित हैं। यह व्यवसाय भी निजी क्षेत्र के अधिकार में ही है।

13. कोयला उद्योग (Coal Industry)—सन् 1814 में बंगाल के रानीगंज-क्षेत्र में कोयले की खान खोदी गई। यह व्यवसाय सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों में ही किया जाता है। सन् 1967-68 में कोयले का उत्पादन 685.2 लाख टन हुआ। इस उद्योग में सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकार बढ़ता जा रहा है।**

14. पोत निर्माण (Ship Building) सार्वजनिक क्षेत्र में विशाखापट्नम् जहाजी बेड़े निर्माण के कारखाने के अतिरिक्त कोचीन में भी एक कारखाना खोला जा रहा है। अब हमारे देश में आधुनिक किस्म के उत्तम चार जहाज प्रति वर्ष बनाये जा सकते हैं। तटीय एवं आन्तरिक जल यातायात के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन निजी क्षेत्र में ही होता है।

---

*India 1969, p. 325

**India 1969, p. 340

15. रेल के डिब्बे का निर्माण (Railway Coach Industry)—सार्वजनिक क्षेत्र में पेराम्बूर (मद्रास) की इन्टग्रल कोच फैक्ट्री तथा हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट लिमिटेड के अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी जजिफ नामक कम्पनी रेल डिब्बों का निर्माण करती है।

16. रेल एंजिन बनाने का उद्योग (Locomotives)—सार्वजनिक क्षेत्र से चितरंजन लोकोमोटिव रेल इंजिन बनाने का कार्य 1950 से कर रहा है। इस कारखाने ने मार्च सन् 1969 तक 2,251 रेल के एंजिनों का निर्माण किया था। निजी क्षेत्र में टाटा इंजिनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी (TELCO) भी मीटर गेज के एंजिनों का निर्माण कर रहा है। अब सार्वजनिक क्षेत्र में एक डीजल एंजिनों का निर्माण करने वाले कारखाने का निर्माण वाराणसी में कर दिया गया है।

17. वायुयान (Air Craft) उद्योग—वायुयान का निर्माण का कार्य एक मात्र सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकार में है। 'हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट लिमिटेड' की विभिन्न इकाइयाँ मिग, सुपर सोनिक जेट, लड़ाकू-HF-27, बारफेउस-703 एवरो-747, 'कृषक' एवं 'पुष्पक' आदि वायुयान बना रही हैं। इनके विभिन्न कारखाने नासिक, हैदराबाद, बंगलोर, कानपुर आदि में स्थित हैं।

18 ऑटोमोबाइल्स, मोटर साइकिलें तथा स्कूटर बनाने का उद्योग कुछ वर्षों पहले तक हमारे देश में ये सभी वस्तुएं विदेशों से आती थीं। अब हमारे देश में ही विभिन्न प्रकार की मोटरें, कारें, जीपें, ट्रकें आदि बनाई जाने लगी हैं। इनको बनाने वाले कारखाने निजी क्षेत्र में ही हैं। इस उद्योग में विदेशी सहयोग भी प्राप्त किया गया है। हमारे देश में लगभग 57 हजार मोटरों तथा 25 हजार मोटर साइकिलों तथा स्कूटरों का उत्पादन प्रति वर्ष होता है।

19 भारी औद्योगिक एवं कृषि मशीनों का निर्माण—इस क्षेत्र में मुख्य कार्य सार्वजनिक क्षेत्र कर रहा है। राँची का हैवी मशीनरी प्लांट, दुर्गापुर का माइनिंग मशीनरी प्लांट, राँची की ही हैवी मशीन टूल प्रोजेक्ट तथा फाउन्ड्री फोर्ज प्लांट, बंगलौर का हिन्दुस्तान मशीन

24. साइकिल, सिलाई की मशीनों तथा प्लास्टिक का
मुख्य रूप से जिन क्षेत्रों में किया जाता है। इन वस्तुओं का अधि
उत्पादन हमारे देश के निर्यात व्यापार की वृद्धि कर हमें अधिक
मुद्राए प्रदान करेगा। इनके संबंध में कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य
अध्याय में दिये गये हैं।

इस प्रकार हम देख सकते है कि हमारे देश में सार्वजनिक क्षे
उद्योगों के विकास में एक महत्वपूर्ण भाग अदा कर रहा है।
इसका यह तात्पर्य नहीं है कि निजी क्षेत्र औद्योगिक विकास में
महत्व नहीं रखता। वस्तुतः दोनों ही क्षेत्र सन्तुलित औद्योगिक
के लिये आवश्यक है।

सारांश

1. लोहा व इस्पात उद्योग—इतिहास—वर्तमान स्थिति—
योजना काल में तीन कारखाने बनाये गये—(1) रूरकेला स्टील
(2) भिलाई स्टील प्लांट (3) दुर्गापुर स्टील प्लांट।

उद्योग की समस्यायें, उपचार एवं प्रगति—

समस्यायें—(1) कोयले कमी (2) कच्चे माल की क

चतुर्थ योजना में—कपड़े का मशीन द्वारा निर्माण, उत्पादन
निर्यात को प्रोत्साहन।

वर्त्तमान स्थिति—देश के संगठित व्यवसायों में इसका स्थान स
प्रथम है।

उद्योग की समस्यायें, उपचार व प्रगति—

समस्यायें—(1) कच्चे माल की समस्या (2) आधुनिकीकरण क
समस्या (3) विवेकीकरण की समस्या (4) निर्यात बढ़ाने की समस्य
(5) उत्पादन समन्वय की समस्या।

3. चीनी उद्योग-इतिहास—बहुत प्राचीन उद्योग है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति—चीनी उद्योग विकास प
10 करोड़ रु० खर्च किया गया। चीनी का निर्यात भी किया गया।

वर्तमान स्थिति—इस उद्योग से सरकार को 65 करोड़ रु० वार्षिक
आय होती है व 100 करोड़ रुपये की कार्यशील पूंजी लगी है।

उद्योग की समस्यायें एवं उपचार—

समस्यायें—(1) गन्ने की कमी (2) [illegible]

अन्य उद्योग–(i) रेशमी वस्त्रोद्योग, (ii) ऊनी वस्त्रोद्योग (iii) रेयन उद्योग, (iv) चाय, (v) चमड़ा उद्योग, (vi) कागज उद्योग, (vii) वनस्पति तेल उद्योग, (viii) कोयला उद्योग, (ix) पोत-निर्माण, (x) रेल के डिब्बों का निर्माण, (xi) वायुयान उद्योग, (xii) ऑटोमोबाइल्स, मोटर साइकिलें व स्कूटर बनाने का उद्योग, (xiii) भारी औद्योगिक एवं कृषि मशीनों का निर्माण, (xiv) विद्युत वस्तुएं, (xv) रासायनिक पदार्थ तथा दवायें, (xvi) उर्वरक, (xvii) तेल शोधक कारखाने, (xviii) साइकिलों, सिलाई की मशीनों तथा प्लास्टिक के सामान बनाने का उद्योग।

प्रश्न

1. 'लोहा व इस्पात उद्योग किसी भी देश के तीव्र औद्योगीकरण के लिये आवश्यक है' क्यों ? अपने उत्तर को उदाहरण सहित पुष्ट कीजिये।
2. भारत में लोहा व इस्पात उद्योग के महत्व तथा वर्तमान स्थिति का वर्णन कीजिये। (राज. बोर्ड, हा. से. 1967)
3. सूती वस्त्र उद्योग भारत में सबसे बड़ा उद्योग होने पर भी समस्याओं से क्यों घिरा हुआ है ?
4. भारत में चीनी उद्योग के महत्व तथा वर्तमान स्थिति का वर्णन कीजिये। (राज. बोर्ड, हा. से., 1966, 1968)
5. भारत में चीनी उद्योग के विकास तथा वर्तमान स्थिति का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (राज. बोर्ड, हा. से., 1969)

—

अध्याय 16

भारतीय विदेशी व्यापार

INDIAN FOREIGN TRADE

"अंतर्राष्ट्रीयता के इस युग में कोई भी राष्ट्र निर्पेक्ष आर्थिक आत्म-निर्भरता का दंभ नहीं भर सकता।"

"भारत का वाणिज्य विश्व का वाणिज्य है और वह जो इसका पूर्ण नियन्त्रण करले वही यूरोप का तानाशाह है।"

पीटर महान्

व्यापार किसी भी देश की आर्थिक उन्नति का माप दण्ड है। व्यापार और वाणिज्य (Trade and Commerce) हमारे आर्थिक जीवन की रीढ़ की हड्डी के समान है। प्राचीन काल में भारतीय समृद्धि का मुख्य कारण यहां का विकसित व्यापार ही था।

संक्षिप्त ऐतिहासिक निरीक्षण (Brief Historical Review)—

और मध्यपूर्व मे मिश्र तक जाता था। बदले में भारत खनिज (minerals), तलवारें, अरबी घोड़े, फारस की शराब तथा सोने का आयात (import) करता था। 17 वी शताब्दी मे यूरोपीय जातियों ने धन की लालसा मे प्रेरित हो "सोने की चिड़िया" भारत को खोज निकाला। पुर्तगाल, इंग्लैंड, हालैंड तथा फ्रांस ने भारत में अपने व्यापारिक और राजनीतिक अड्डे स्थापित किये। इंग्लैंड की सरकार द्वारा प्रोत्साहित व मुख्यतः व्यापार के उद्देश्य से बनाई गई ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) ने शनैः शनैः भारत में राज्य स्थापित किया। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति तथा अन्य कारणों से भारत में राज्य स्थापित किया। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति तथा अन्य कारणों से हमारे विदेशी व्यापार में कई परिवर्तन हुए। प्रथम महायुद्ध (सन् 1914-18) और विश्वव्यापी घोर मन्दी (1929-32) के फलस्वरूप व्यापार में कई प्रकार के उतार चढ़ाव आये। हमारा निर्यात आयात की अपेक्षा संकुचित होने से हमें करोड़ों रुपये का सोना बाहर भेजना पड़ा। सन् 1947 के बाद भारतीय विदेशी व्यापार की स्थिति में बहुत परिवर्तन हुआ।

सन् 1939 तक के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएं (Main Features)

1. निर्यात की अधिकता (Excess of exports)—सन् 1931 तक हमारा निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक था परन्तु इसके पश्चात् आयात मे वृद्धि होने के कारण स्थिति बदल गई। यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध काल मे बदली पर व्यापारिक सन्तुलन (Balance of trade) देश के पक्ष मे रहा।

2. आयात में निर्मित वस्तुओं (Manufactured goods) की अधिकता—इस काल में विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्यतः निर्मित वस्तुएं—मोटरें, साइकिलें, सिलाई की मशीनें, कपड़ा, चमड़े का सामान, खिलौने, मशीनें, रासायनिक पदार्थ आदि थी। अब

वस्तुओं के उत्पादन के बहुत से कारखाने खुल चुके हैं तथा खुलते जा र हैं। सरकार ने सन् 1925 में संरक्षण नीति (Protection policy को अपनाया।

3. निर्यात में कच्चे माल तथा अनाज की अधिकता—भारत के निर्यात में कच्चे माल तथा अन्न का ही अधिकांश भाग था क्योंकि कारखाने नहीं होने से भारत अपने कच्चे पदार्थों का स्वयं उपयोग नहीं कर सकता था। अब स्थिति बहुत कुछ बदल गई है।

4. निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की सीमित संख्या—आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या काफी अधिक थी, परन्तु निर्यात की जाने वाली वस्तुएं, जैसे जूट का सामान, कपास, चाय, सूती कपड़े, चमड़ा, खाल आदि गिनी चुनी ही थीं।

5. भारत के व्यापार में संयुक्त राज्य (U.K.) का प्रमुख स्थान—सन् 1939 तक भारत का अधिकतर व्यापार ग्रेट ब्रिटेन के साथ होता था।

(ब) द्वितीय महायुद्ध काल (Second World War Period)—

काल में भारत का व्यापार मित्र देशों के साथ बढ़ा परन्तु संयुक्त राज
अमेरिका (U. S. A) के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अधिक हो गया
सन् 1944-45 में संयुक्त राज्य अमेरिका से लगभग 45 करोड़ रुप
का व्यापार हुआ। (3) व्यापार सन्तुलन पक्ष में—इस युग में आया
की अपेक्षा निर्यात अधिक होने के कारण व्यापार का सन्तुलन हमा
पक्ष में (favourable balance of trade) रहा।

(स) युद्धोत्तर काल (Postwar period)—द्वितीय महायुद्ध
कारण पाश्चात्य देशों में कई आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। भार
में भी आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्त
हुये। सन् 1947 में देश का विभाजन (Parition) तथा स्वतन्त्र
प्राप्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका हमारे व्यापारिक ढांचे पर बहु
प्रभाव पड़ा। आयात में कटौती करने निर्यात बढ़ाने तथा व्यापारि
संतुलन देश के पक्ष में रखने के लिये कई प्रकार के कदम उठाये गये
सितम्बर, 1949 में रुपये का अवमूल्यन (devaluation) किया गया
जो लाभप्रद सिद्ध हुआ। व्यापार की स्थिति पर कई प्राकृतिक, राष्ट्री
तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता है। अतः परिवर्तन हो
रहते हैं। राष्ट्रमण्डल (Common Wealth) के देशों के अतिरि
अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाये जा रहे हैं।

पंचवर्षीय योजनायें एवं व्यापार—

भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्याप
में वृद्धि करने पर पर्याप्त ध्यान दिया गया था। यह आशा थी कि स
1960-61 तक भारत के विदेशी व्यापार में सन् 1950-51 क
तुलना में 5 प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी। यह वृद्धि अधिकतर कपड़
एवं जूट की बनी वस्तुओं, मैंगनीज, लोहा, कोयला, तेल, चाय का
तम्बाकू, काली मिर्च, ऊन की बनी वस्तुओं आदि में होने का अनुमा
था। इनके अतिरिक्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विदेशों को सिला
की मशीनें, कपड़ा, बुनने की मशीनें, बिजली के पंखे, साइकिलें, बैटरिय
छोटे-छोटे मशीनी पुर्जे, साबुन, रसायन, सीमेंट और औद्योगिक

तृतीय योजना की अवधि में निर्यात-स्तर में वृद्धि हुई। सरकार के निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion) उपायों का परिणाम स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर हुआ। आर्थिक नियोजन के इन 17 वर्षों में हमारे विदेशी व्यापार की मात्रा, दिशा एवं ढांचे मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की अवधि मे निर्यात वृद्धि से अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त किये जाने का लक्ष्य है। प्रस्तावित चतुर्थ योजना मे निर्यात के स्तर में 30·6 प्रतिशत की वृद्धि होने का लक्ष्य है।* पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि मे भारत के कुल विदेशी व्यापार की मात्रा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाएगी—

भारत का विदेशी व्यापार **

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल विदेशी व्यापार	व्यापार शेष
1950-51	650·44	600 67	1,251·11	− 49·56
1955-56	774·45	608·91	1,383·26	−165·44
1961-62	1,093·08	660·58	1,753·66	−432·50
1964-65	1,349·72	816·30	2,166·02	−533·42
1965-66	1,408 89	805·64	2,214·53	−630·25
1966-67	2,078 36	1156 53	3,234·89	−921·83
1967-68	1,974·28	1198·67	3,172·95	−775·61

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले पन्द्रह वर्षों से आयात, निर्यात एवं व्यापार शेष में असन्तुलन बढ़ता जा रहा है।

सन् 1947 से आज तक के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ (Main Features of Foreign Trade since 1947)

1. देश के विभाजन का प्रभाव (Effects of Partition)— 1947 में देश का विभाजन हुआ। बटवारे से भारत के अन्तर्राष्ट्रीय

* Export Programme in the IV F. Y. Plan, Sept. 1965

**India 1969, p. 359

व्यापार पर विशेष प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप भारत को कच्चा जूट, कपास तथा चमड़े की खालें विदेशों से मंगानी पड़ती हैं। जूट का आयात पाकिस्तान से किया जाता है। पाकिस्तान बनने से भारत के आन्तरिक व्यापार पर भी बहुत प्रभाव पड़ा है। पश्चिमी पंजाब का गेहूँ, बंगाल का चावल व जूट और सिंध की कपास आदि वस्तुओं के आन्तरिक व्यापार (internal trade) में कमी आ गयी है।

2 व्यापार का सन्तुलन (Balance of Trade)—भारत के विदेशी व्यापार का सन्तुलन सन् 1950 को छोड़कर इसके विपक्ष में ही रहा है और विशेषतः डालर देशों के साथ। परन्तु निर्यात बढ़ाने के लिए सन् 1949-50 से "निर्यात सलाहकार परिषद्" के प्रयत्न जारी हैं। सन् 1967-68 में घाटा 775·61 करोड़ रुपये का था।

3. रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee)—व्यापार सन्तुलन को पक्ष में करने के लिए सन् 1949 में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया और डालर देशों से आने वाले माल पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये गये। फलतः सन् 1950-51 में निर्यात वृद्धि हुई और व्यापारिक सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से व्यापार सन्तुलन फिर हमारे विपक्ष में हो गया है। जून सन् 1966 में रुपये का फिर अवमूल्यन किया गया है।

4. निर्यात में निर्मित माल (Manufactured and finished goods) की अधिकता—हम सूती वस्त्र और जूट का बना माल काफी मात्रा में निर्यात कर रहे हैं और कपास तथा कच्चा जूट आजकल विदेशों से आयात कर रहे हैं।

5. जूट और कपास का विशेष आयात—सन् 1947 के विभाजन के बाद 70 प्रतिशत जूट उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारतीय जूट पाकिस्तान से मंगाना पड़ता है। इस प्रकार रुई उत्पादन क्षेत्र भी पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत को रुई सूडान, मिस्र और संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) से मंगानी पड़ती है।

6. खाद्यान्नों (Food grains) का विशेष आयात—पिछले कई वर्षों से देश में अन्न की भारी कमी के कारण खाद्यान्नों का औसतन वार्षिक आयात लगभग 125 करोड़ रुपये का हो रहा है। आशा की जाती है कि भविष्य में भारत को इतनी भारी रकम खाद्यान्न के आयात पर खर्च नहीं करनी पड़ेगी। सन् 1967-68 में 378·47 करोड़ रुपये के मूल्य के गेहूँ तथा 54·76 करोड़ रुपये के मूल्य के चावल का आयात हुआ।

7. औद्योगीकरण (Industrialisation)—द्वितीय महायुद्ध से देश औद्योगीकरण में प्रगति की ओर बढ़ रहा है और कई निर्मित वस्तुएँ यहाँ से बाहर भी भेजी जा रही हैं। निर्मित माल का निर्यात बढ़ता जा रहा है।

8. व्यापार की दिशा (Direction of Trade) में परिवर्तन—हमारे व्यापार की दिशा में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पहले जहाँ 'एम्पायर देशों (Empire Countries) से ही अधिकांश व्यापार होता था, वहाँ अब नॉन-एम्पायर देशों' (Non-empire Countries) से व्यापार बढ़ रहा है। हमारे विदेशी व्यापार में ग्रेट ब्रिटेन की प्रधानता के साथ-साथ संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्व एवं व्यापारिक संबंध बढ़ रहे हैं। सन् 1967-68 में ग्रेट ब्रिटेन को 229·03 करोड़ रुपये के मूल्य के निर्यात किये गये तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को 207·43 करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात हुआ।

विदेशी व्यापार का ढांचा एवं दिशा
(Pattern and Direction of Foreign Trade)

सन् 1967-68 में भारत के विदेशी व्यापार का मूल्य 3,172·95 करोड़ रुपये था, जिसमें से निर्यात 1198·67 तथा आयात 1974·28 करोड़ रुपये के मूल्य का था। भारतीय विदेशी व्यापार सन् 1950-51 की तुलना में लगभग 153 प्रतिशत से अधिक हो गया।

निर्यात की वस्तुएं (Items of Exports)—

हमारे निर्यात व्यापार में उल्लेखनीय वस्तुएं निम्नांकित हैं—

1. जूट तथा जूट से निर्मित वस्तुएं—कच्चा जूट विशेषत सं० रा० अमेरिका, स्कॉटलैंड, जर्मनी, स्पेन, इटली और बेल्जियम को जाता है। निर्मित जूट की वस्तुएं सं० रा० अमेरिका, अर्जेंटाइना कनाडा, ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, आस्ट्रेलिया और जापान आदि देशों को भेजी जाती हैं।

2. चाय—ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, सं० रा० अमेरिका और बर्मा चाय के प्रमुख ग्राहक हैं। भारत की चाय के समस्त निर्यात का 60 प्रतिशत भाग ग्रेट ब्रिटेन को जाता है।

3. सूती वस्त्र—जो देश भारत से कपड़ा मंगाते हैं, उनमें सिंगापुर, बर्मा, अदन, लंका, ईराक और ईरान आदि मुख्य हैं।

4. तिलहन (oil seeds)—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, इटली, बेल्जियम आदि देश भारतीय तिलहन के प्रमुख ग्राहक हैं।

5. कपास, रद्दी रुई—भारतीय कपास व रद्दी रुई के प्रमुख आयातक देश जापान, ब्रिटेन और बेल्जियम हैं।

6. खालें, चमड़ा व कमाया हुआ चमड़ा—ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, जर्मनी, जापान, फ्रांस, हालैंड, और इटली इन वस्तुओं के प्रमुख ग्राहक हैं।

आयात (Imports)—भारत के प्रमुख आयात में मशीनें, लोहा व इस्पात, खनिज, तेल, कपास, यातायात वाहन, खाद्यान्न आदि उल्लेखनीय हैं। सन् 1967-68 में पिछले वर्ष की तुलना में 104·08 करोड़ रुपये का आयात कम हुआ। यहाँ हम कुछ मुख्य आयातित वस्तुओं का वर्णन करेंगे—

1. खनिज तेल—खनिज तेल के उत्पादन की दृष्टि से भारत एक निर्धन देश है। अतः भारत को सं० रा० अमेरिका, ईरान, बर्मा, बोर्नियो, सुमात्रा, रूस आदि से खनिज तेल खरीदना पड़ता है।

2. कपास—विभाजन के पश्चात् भारत को सबसे लम्बे रेशे (long staple cotton) की रुई सं० रा० अमेरिका, सूडान, मिस्र आदि देशों से मंगानी पड़ती है, क्योंकि बहुत से कपास उत्पादक क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये हैं।

3. सब प्रकार की मशीनें—मशीनों का आयात, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, जापान, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों से किया जाता है।

4. रासायनिक पदार्थ (Chemicals) तथा औषधियाँ—विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, फ्रांस आदि देशों से ये वस्तुएं मंगाई जाती हैं।

5. कच्ची धातुएँ तथा निर्मित सामान—सं० रा० अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको और दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों से कच्ची धातुएँ और निर्मित सामान आयात किये जाते हैं।

6. ऊन तथा ऊनी वस्त्र—सबसे अधिक ऊन आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से मंगाई जाती है। इनके अतिरिक्त नेपाल, तिब्बत और अफगानिस्तान से भी ऊन आती है। ऊनी सामान विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली आदि देशों से मगाया जाता है।

7. रेशम तथा रेशमी वस्त्र—कच्चा रेशम चीन व जापान से आता है रेशमी तथा कृत्रिम वस्त्र जापान और इटली से आता है। आयात का 70 प्रतिशत भाग जापान से आयात होता है। आधुनिक काल में कृत्रिम रेशम के कारखाने भारतवर्ष में खुलते जा रहे हैं।

8 कागज और कागज की लुग्दी (Pulp)—सं० रा० अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, जर्मनी, नार्वे फिनलैंड व स्वीडन आदि देशों से कागज और कागज की लुग्दी मंगाई जाती है।

9. कच्चा जूट—देश के विभाजन से जूट उत्पादक क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये हैं और इसलिए भारत को कच्चा जूट पाकिस्तान से मंगाना पड़ता है।

10. खाद्यान्न—देश मे खाद्यान्न की कमी के कारण दुर्भाग्यवश पिछले कई वर्षों से भारत को खाद्यान्न सं० रा० अमेरिका, अर्जेन्टाइना, कनाडा आदि देशों से मंगाना पड़ता है। देश की नदी घाटी योजनाओं के पूर्ण होने पर भारत की स्थिति इस दिशा में अधिक अच्छी होने की सम्भावना है।

इस प्रकार पिछले 20 वर्षों में आयात एवं निर्यात की वस्तुओं की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है।

भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध—यहाँ हम विदेशी व्यापार से सम्बन्धित महत्वपूर्ण देशों के बारे में अध्ययन करेंगे।

1. ग्रेट ब्रिटेन—भारत के विदेशी व्यापार में ग्रेट ब्रिटेन का भाग महत्वपूर्ण है। सन् 1967-68 मे हमने ग्रेट ब्रिटेन (U. K.) से 1,57,86 लाख रुपये का माल आयात किया तथा (U. K.) को

2,29,03 लाख रुपये का निर्यात किया। हमारे कुल निर्यात व्यापार में U. K. का लगभग 18 प्रतिशत भाग था। आयात व्यापार में U. K. का लगभग 11 प्रतिशत भाग था। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन से हमारा अनुपातिक व्यापार कम होता जा रहा है, फिर भी हमारे व्यापार का महत्वपूर्ण सम्बन्ध यहीं से है। हम मशीनें, रासायनिक पदार्थ, औषधियाँ आदि आयात करते हैं और वहाँ चाय, जूट निर्मित पदार्थ, मसाले, तिलहन, चमड़े व खालें आदि वस्तुएँ भेजते हैं।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A)—हमारे विदेशी व्यापार से सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण देश संयुक्त राज्य अमेरिका है। हमारे आयात का लगभग 37 प्रतिशत तथा निर्यात का 18 प्रतिशत भाग इसी से सम्बन्ध रखता है। सन् 1967-68 में भारत ने यहाँ से 7,71,51 लाख रुपये के मूल्य की वस्तुएँ मगाई और 2,07,43 लाख रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया। अमेरिका यहाँ से जूट निर्मित पदार्थ, खालें और चमड़ा, चाय, मसाले, वनस्पति घी, खनिज पदार्थ आदि मगाता है, जबकि हम वहाँ से मशीनें, खाद्यान्न, रासायनिक सामान आदि वस्तुएँ मगाते हैं।

3 कनाडा—कनाडा और भारत की अर्थव्यवस्थाओं में समानता होने के कारण व्यापार की अच्छी सम्भावनायें हैं। यहाँ से हम कनाडा को चाय, जूट निर्मित पदार्थ, खालें, मसाले, गलीचे आदि भेजते हैं, और वहाँ से गेहूँ, मशीनें, कृषि के औज़ार आदि वस्तुएँ मगाते हैं।

4. अन्य देश—हमारा विदेशी व्यापार कई देशों से सम्बन्धित है। प० जर्मनी, जापान, आस्ट्रेलिया, मिस्र, ईरान, ईराक, बर्मा, लंका, नेपाल, पाकिस्तान, रूस इण्डोनेशिया आदि देशों से हमारे महत्वपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इग्लैंड का भारतीय विदेशी व्यापार में महत्व कम होता जा रहा है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, इटली, जापान आदि देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ रहे हैं।

सरकार की विदेशी व्यापार नीति—राजकीय नीति को दो भाग में बांट सकते हैं—1. आयात नीति (Import Policy), तथ 2. निर्यात नीति (Export Policy) । विदेशी व्यापार से संतुलन प्राप्त करने के लिए दोनों ही प्रकार की नीतियां आवश्यक हैं ।

आयात नीति—आयात नीति का मुख्य उद्देश्य देश के योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों को बढ़ाना तथा विदेशी विनिमय का उचित नियंत्रण करना है ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद समय-समय पर सरकार की नीति बदलती रही है । सन् 1948-49 मे जब स्टलिंग क्षेत्र वाले देशों में डॉलर मुद्राओं की कमी अनुभव होने लगी तब डॉलर क्षेत्र वाले देशों से किये जाने वाले आयातों पर कड़ा नियन्त्रण कर दिया गया । इसके विपरीत स्टलिंग क्षेत्र वाले देशों से किये जाने वाले आयात को ढील दे दी गई । किन्तु इस ढील से आयात हमारी सामर्थ्य से अधिक हो गए । परिणाम-स्वरूप आयात नियन्त्रण और कठोर कर दिये गए । डॉलर क्षेत्र वाले देशों से आयात की मात्रा सन् 1948 की तुलना में 25 प्रतिशत से कम कर दी गई । सन् 1949 में अवमूल्यन (Devalution) के कारण स्थिति थोड़ी सुधरी, किन्तु अधिक नहीं ।

सन् 1950 में आयात जांच समिति ने आयात नियंत्रण के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बतलाये—

(अ) उपलब्ध विदेशी मुद्रा तक ही आयातों को सीमित करना ।

(आ) उद्योग एवं कृषि विकास के लिए आवश्यक वस्तुएं तथा अति आवश्यक उपभोग की वस्तुओं के आयात का ही प्रबन्ध करना, तथा

(इ) किसी वस्तु की कीमत के उतार-चढ़ाव को रोकने के लिए आयात नियंत्रण करना ।

समिति की सिफारिशों पर आयात लाइसेन्स की पद्धति को सरल बनाया गया । सन् 1951 में आयात नियन्त्रणों में और ढील दी गई ।

सन् 1952-56 में और आसान नीति अपनाई गई। परिणामस्वरूप अधिक आयात हुए और सरकार को बाध्य होकर आयात नीति को कठोर बनाना पड़ा। तब से उपभोग पदार्थों (Consumer goods) के आयात में कमी हो गई। इसके अतिरिक्त लाइसेन्स देने की पद्धति में भी आवश्यक सुधार किये गये ताकि अनावश्यक आयात रोके जा सकें। इन सबसे भुगतान शेष की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया।

(ब) निर्यात नीति (Export Policy)—निर्यात नीति के मुख्य उद्देश्य विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के अतिरिक्त देश में कीमतों की वृद्धि को रोकना तथा देश की आंतरिक आवश्यकताओं को पूरा करना है।

सन् 1948-49 में निर्यात की वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् 1957 के बाद से निर्यात वृद्धि के आवश्यक प्रयत्न किए जा रहे हैं। निर्यात प्रोत्साहन के लिए किए गए निम्नलिखित प्रयत्न उल्लेखनीय हैं—

सन् 1959-60 की निर्धारित "निर्यात व्यापार के विकास' (Export Promotion) की व्यापार नीति गत वर्षों में जारी रही है। निर्यात वृद्धि पर अधिकाधिक बल दिया जाता रहा है। आयात नियंत्रण (Import restrictions) नीति का लक्ष्य भी निर्यात को प्रोत्साहन देना है। सन् 1962-63 की व्यापार नीति की प्रमुख विशेषतायें निम्न थीं—

1 देशी उद्योगों की प्रगति को ध्यान में रखते हुए विख्यात आयातकर्ताओं के आयात कोटों में कमी की गई और कुछ वस्तुओं के आयात कोटों (Import quotas) पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

2. जून सन् 1962 में देश की पौंड पावने (Sterling Balance) की राशि में काफी कमी आने के कारण विख्यात आयातकर्ताओं को लाइसेन्स देने में 50 प्रतिशत की कटौती की गई।

3. अक्टूबर सन् 1962 से मार्च सन् 1963 की अवधि के लिए आयात नीति संकट काल की स्थिति से उत्पन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई।

4. अप्रैल सन 1963 से मार्च सन् 1964 के लिए आयात के लाइसेन्स के प्रार्थना पत्र पूरे वर्ष के आधार पर होने चाहिये। नई नीति पिछली नीति से कुछ अधिक उदार है।

5. सामान्य निर्यात पर लगे नियन्त्रण में निरन्तर ढील देने तथा देश की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप संगठित निर्यात प्रोत्साहन की नीति सन् 1962 में जारी रही। "निर्यात नियन्त्रण आदेश, 1957" पर पुनर्विचार किया गया और इसके स्थान पर 10 अक्टूबर सन् 1962 से नया आदेश लागू किया गया जिसके अनुसार कई वस्तुओं के निर्यात पर से नियन्त्रण हटा लिया गया।

6. जून सन् 1966 मे भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया। इस प्रकार व्यापार नीति के मुख्य उद्देश्य अन्तर्देशीय बाजारों में उचित मूल्य पर वस्तुओं के न्यायोचित वितरण की व्यवस्था करना, निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि लाना और आयात की गई वस्तुओं और कच्चे माल के स्थान पर देशी उत्पादन को प्रोत्साहन देना है।

निर्यात प्रोत्साहन के लिए किए गए निम्नलिखित प्रयत्न उल्लेखनीय हैं—

1. निर्यात व्यापार नियन्त्रण (Export control)—कठोर आयात नीति के साथ-साथ, निर्यात बढ़ाने के लिए 200 वस्तुओं पर से निर्यात व्यापार नियन्त्रण हटा लिया गया। साथ ही उन वस्तुओं की संख्या कम कर दी गई है जिन पर कोटा (quota) सम्बन्धी प्रतिबन्ध (restrictions) लागू थे, और नियन्त्रण के आधीन आने वाली शेष वस्तुओं के लिए यथासम्भव मुक्त रूप से (freely) लाइसेन्स देने की अनुमति दी गई।

2. निर्यात संवर्धन (Export Promotion)—निर्यात सलाहकार परिषद् जो सरकार को निर्यात नीति सम्बन्धी मामलों में सलाह

देने वाली मुख्य संस्थाओं का पुनर्गठन किया गया और इसका नाम 'निर्यात संवर्धन सलाहकार परिषद' रखा गया। इंजीनियरिंग, चमड़ा, प्लास्टिक, लिनोलियम, काजू, काली-मिर्च आदि वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए संवर्धन परिषदें बनाई जा चुकी हैं। सरकार निर्यात संवर्धन परिषदों को सहायक अनुदान देती है। सन् 1958 में सहायक अनुदानों के लिए 12 लाख रुपये की व्यवस्था की गई। निर्यात होने वाली वस्तुओं के निर्माण में प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल और सहायक वस्तुओं आदि के आयात में निर्यातकों को सहायता देने के लिए योजनायें बनाई गई हैं। ऐसे कदम उठाये गए हैं जिनसे निर्यात उद्योगों को इस्पात, नकली रेशम, धागा, प्लास्टिक के कच्चे माल तथा रेक्सिन सस्ते दामों पर मिल सकें।

निर्यात व्यापार संगठन—कुछ वस्तुओं, जैसे—तम्बाकू, कच्ची ऊन आदि का अनिवार्य रूप से वर्गीकरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त सूती कपड़े तथा नकली रेशम के कपड़ों का स्वेच्छा से निर्यात करने के पूर्व निरीक्षण (Inspection) की व्यवस्था की जा चुकी है। काजू, चमड़ा अभ्रक (mica) तथा खेल कूद के सामान के बारे में सम्बन्धित 'निर्यात संवर्धन परिषद' निर्यात के लिए किस्म सम्बन्धी नीति निर्धारित करने और निरीक्षण करने की योजनायें बनाने के लिए कदम उठा रही है।

4. पंच फैसला (Arbitration) तथा शिकायतें—विभिन्न वाणिज्य मण्डलों आदि में निर्यातकर्ताओं का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया गया है कि विदेशी खरीददार के साथ अपने निर्यात सौदों के पंच फैसले सम्बन्धी उपर्युक्त धारायें रखना वांछनीय है।

5. परिवहन सुविधायें—बहुत से मामलों में निर्यातकर्ताओं को रेल यातायात सम्बन्धी सहायता दी जा रही है। सरकार बन्दरगाहों तक निर्यात माल को पहुंचाने के लिए रेल दरों में कमी करने पर विचार कर रही है। जहाजरानी को अपर्याप्त सुविधायें तथा भाड़े की ऊंची दरें

निर्यात बढ़ाने के प्रयासों में बाधा डालती हैं। इन समस्याओं के निवारणार्थ बम्बई में जहाजरानी सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया जा चुका है तथा अन्य कदम उठाये जा रहे हैं।

6. प्रदर्शनियां तथा मेले—आजकल प्रतियोगितापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रदर्शनियां, मेले, व्यापारिक प्रचार आदि अपने माल के विज्ञापन करने के महत्वपूर्ण साधन बन गये हैं। प्रदर्शनी निदेशालय ने अपना कार्य क्षेत्र बढ़ा दिया है और भारतीय माल के व्यापारिक प्रचार की कला में भी सुधार कर दिया गया है जिससे उपभोक्ताओं की उनमें रुचि जागृत हो। भारत समय-समय पर विदेशों में होने वाली अनेक प्रदर्शनियों में भी भाग लेता रहता है।

7. व्यापार करार (Commercial Agreements)—विभिन्न देशों से व्यापार बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास चालू रखे गये और नये व्यापार करार तथा जिन करारों की अवधि समाप्त हो गई, उनके नवीनीकरण के लिए कदम उठाये गए। हाल ही में अफगानिस्तान, बर्मा, जोर्डन, मोरक्को, मैक्सिको, रूमानिया, यूगोस्लाविया तथा चेकोस्लेविया के साथ नए व्यापार समझौते किए गए हैं।

8. निर्यात जोखिम बीमा (Export Risk Insurance)—सरकार ने जो निर्यात बीमा निगम स्थापित किया है, उनसे निर्यात बढ़ाने में सहायता मिल रही है। साख के आधार पर किए जाने वाले निर्यात के जिन सौदों का जोखिम का अब तक साधारण बीमा साधनों से बीमा नहीं होता था, अब उनका बीमा इस निगम द्वारा हो सकेगा। अतः अब अधिक मात्रा में निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा सकेगा।

9. भारतीय रुपए का अवमूल्यन (Devaluation of Indian (Rupee)—6 जून सन् 1966 को भारतीय रुपए का विदेशी मुद्राओं

में 36·5 प्रतिशत का अवमूल्यन कर दिया गया।* इसका मुख्य उद्देश्य निर्यात (export) बढ़ाना था। अब दूसरे देश हमारा माल पहले की अपेक्षा कम मूल्यों में मिलने के कारण अधिक मात्रा में खरीदेंगे। इस प्रकार निर्यात की जाने वाले वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होगी।

10. अन्य प्रयत्न—उक्त प्रयत्नों के अतिरिक्त सरकार समय-समय पर विदेशो को व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल (Trade delegations) भेजती है। ये प्रतिनिधि मण्डल विदेशों में भारतीय वस्तुओं के बाजार को विस्तृत करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

राज्य व्यापार (State Trading)

निर्यात व्यापार का विस्तार करने तथा वस्तु विनिमय समझौतों (Batter deals) के आधार पर भारतीय वस्तुओं के लिए नए बाजारों को ढूंढने के लिए सरकार ने इस क्षेत्र में तीन संगठनों की स्थापना की है। ये हैं—

(अ) राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation), 1956

(ब) खनिज एवं धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals trading Corporation), 1962 तथा

(स) मेटल स्क्रेप ट्रेड कार्पोरेशन (Metal Scrap Trade Corporation), 1964

उक्त संगठनों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापार के विकास का कार्य किया जा रहा है। इन संगठनों को [illegible] (Efficient) बनाया जाना चाहिए।

---

*अवमूल्यन से पहले—1 [illegible] तथा 1 ब्रिटिश [illegible] 13·33 रुपए [illegible], तथा 1 ब्रिटिश [illegible] 18 रुपए

सारांश

व्यापार किसी भी देश की आर्थिक उन्नति का मापदण्ड है। व्याप
आर्थिक जीवन की रीढ़ की हड्डी के समान है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक निरीक्षण—

(अ) प्राचीनकाल से सन् 1939 तक
(ब) द्वितीय महायुद्ध काल (1939-45) तथा
(स) युद्धोत्तर काल (1945 से आज तक)।

(अ) सन् 1939 तक के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें—

(1) निर्यात की अधिकता (2) आयात में निर्मित वस्तुओं की अधिकत
(3) निर्यात में कच्चे माल तथा अनाज की अधिकता (4) निर्यात क
जाने वाली वस्तुओं की सीमित संख्या (5) भारत के व्यापार में ब्रिटे
का प्रमुख स्थान।

(ब) द्वितीय महायुद्ध काल के व्यापार की विशेषतायें—

(1) निर्यात में वृद्धि (2) व्यापार में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों
की प्रधानता, (3) व्यापार सन्तुलन पक्ष में।

(स) युद्धोत्तर काल—

भारत में अनेक आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन हुये।

पंचवर्षीय योजनायें एवं व्यापार—

प्रथम योजना में—1950-51 की तुलना में 1960-62 तक 3
प्रतिशत वृद्धि की आशा थी।

द्वितीय योजना में—कुछ वस्तुओं पर तट कर कम करने की
सिफारिश की गई।

तृतीय योजना में—निर्यात-स्तर में वृद्धि हुई।

योजना में—निर्यात-स्तर में 30 6 प्रतिशत वृद्धि होने का

सन् 1947 से आज तक के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें—

(1) देश के विभाजन का प्रभाव (2) व्यापार का सन्तुलन, (3) रुपये का अवमूल्यन (4) निर्यात में निर्मित माल (5) जूट और कपास का विशेष आयात, (6) खाद्यान्नों का विशेष आयात, (7) औद्योगीकरण (8) व्यापार की दिशा में परिवर्तन।

विदेशी व्यापार का ढांचा एवं दिशा—

निर्यात की वस्तुयें—जूट तथा जूट से निर्मित वस्तुयें, चाय, सूती वस्त्र, तिलहन, कपास, रद्दी रुई, खालें, चमड़ा व कमाया हुआ चमड़ा।

आयात की वस्तुएं—खनिज तेल, कपास, सब प्रकार की मशीनें, रासायनिक पदार्थ तथा औषधियाँ, कच्ची धातुयें तथा निर्मित सामान, ऊन तथा ऊनी वस्त्र, रेशम तथा रेशमी वस्त्र, कागज और कागज की लुब्दी, कच्चा जूट व खाद्यान्न।

भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध—प्रमुख देश ये हैं—(1) ग्रेट ब्रिटेन (2) संयुक्त राज्य अमेरिका (3) कनाडा (4) अन्य देश।

सरकार की विदेशी व्यापार नीति—(1) आयात नीति (2) निर्यात नीति।

निर्यात प्रोत्साहन के लिये किये गये प्रयत्न—(1) निर्यात व्यापार नियन्त्रण (2) निर्यात संवर्धन (3) निर्यात व्यापार संगठन (4) पंच फैसला तथा शिकायतें (5) परिवहन सुविधायें (6) प्रदर्शनियां तथा मेले (7) व्यापार करार (8) निर्यात जोखिम बीमा (9) भारतीय रुपये का अवमूल्यन (10) अन्य प्रयत्न।

राज्य व्यापार—तीन संगठनों की कल्पना।

प्रश्न

... के वैदेशिक व्यापार की क्या विशेषतायें हैं? किन-किन ... किन-किन वस्तुओं का निर्यात होता है?

2. भारत के मुख्य आयातों व निर्यातों का विवरण दीजिये और बताइये कि कुछ वर्षों से व्यापार का अन्तर हमारे प्रतिकूल क्यों हो गया है ? (राज. बोर्ड, हा. से 1961)

3. भारत की आयात तथा निर्यात की प्रमुख वस्तुओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये । (राज. बोर्ड, हा. से. 1966)

4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

   (i) भारत के आयात के मुख्य पदार्थ (राज. बोर्ड, हा. से. 1967-1968)

   (ii) सरकार की विदेशी व्यापार की नीति

   (iii) राज्य व्यापार

5. भारत के आयात की मुख्य मदें बतलाइये । भारत सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए क्या कदम उठाए हैं ? (राज. बो., हा. से. 1969)

अध्याय 17

भारत में बेरोजगारी की समस्या

PROBLEM OF UNEMPLOYMENT IN INDIA

"बेरोजगारी का सबसे बड़ा दुष्परिणाम भौतिक नहीं वरन नैतिक है। वह आवश्यकताओं की अतृप्ति ही नहीं वरन् घृणा और भय को भी जन्म देती है।" —बेवरीज

विश्व की बढ़ती हुई जनसंख्या ने अनेक सामाजिक एवम् आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है। बढ़ती हुई जनसंख्या को उचित मात्रा में भोजन, वस्त्र एवम् आवास की मूल सुविधाएं पूर्ण रोजगार (full employment) की अवस्था से ही प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु विश्व में आज बेरोजगारी की समस्या ने बड़ा विकराल रूप धारण कर रखा है। बेरोजगारी की समस्या अर्थ व्यवस्थाओं के लिए क्षय रोग के समान मानी जाती है। यह समस्या छोटे और बड़े विकसित एवं विकासशील, समाजवादी एवम् पूंजीवादी सभी देशों में थोड़े या अधिक अंशों में विद्यमान है। पाश्चात्य देशों में समस्या मूलतः औद्योगिक बेरोजगारी की है जबकि भारत एवम् एशिया के विकासशील (developing) देशों में यह समस्या प्रमुख रूप से कृषि क्षेत्रों में व्याप्त है।

बेरोजगारी का अर्थ—

सामान्यतः किसी भी देश में काम करने योग्य एवम् इच्छुक स्त्रीपुरुषों को आर्थिक कार्य न मिलना ही बेरोजगारी कहलाती है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं—जैसे अस्थायी बेरोजगारी (Frictional Unemployment), अप्रकट या गुप्त बेरोजगारी (Disguised Unemployment), ऐच्छिक (Voluntary) बेरोजगारी, अनैच्छिक (Involuntary) बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment) अर्द्ध बेरोजगारी, आदि। हम भारतीय संदर्भ में इनका यथा स्थान वर्णन करेंगे।

भारत में रोजगार की अवस्था—

भारत में एक विकासशील (Developing) अर्थ व्यवस्था आर्थिक विकास के लिए मुख्यतः दो साधनों की आवश्यकता होती (अ) भौतिक साधन तथा (ब) मानवीय साधन। मानवीय साधन आ विकास के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन हैं। यदि इनका पूर्ण उप किया जा सके तो देश की विकास दर (Rate of growth) में वृद्धि होती है।

भारतवर्ष में मानवीय साधनों की बहुलता है। अनुमान है अभी देश में लगभग 51½ करोड़ जनसंख्या निवास करती है। 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में 43·9 करोड़ जनसं निवास करती थी। इस जनसंख्या का 56 प्रतिशत भाग 15 से वर्ष की आयु समूह में आता है। यही वह वर्ग है जो कार्यशील जनसं या श्रम शक्ति (labour force) में गिना जाता है।

भारत में जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण (1961) निम्नां तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

व्यवसाय	प्रतिशत
कृषि (कृषि श्रमिकों सहित)	69·5
खान खोदना तथा मछली पकड़ना	2·7
उद्योग	10·6
वाणिज्य	4·1
यातायात	1·6
अन्य सेवायें	11·5
	100·0

सन् 1961 की जनगणना के अनुसार हमारे यहां की कार्यशील जन संख्या (working population) कुल जनसंख्या की 42·98 प्रतिश

थी अर्थात् कुल कार्य करने वाले लोगों की जनसंख्या 18·84 करोड़ थी। जहां आयु के अनुसार कार्य कर सकने वाली जनसंख्या 36 प्रतिशत है वहां कार्यरत जनसंख्या लगभग 43 प्रतिशत है। ऐसी स्थिति में लगभग 13 प्रतिशत लोग जो काम कर सकते थे कार्य नहीं कर पा रहे थे अर्थात् बेरोजगार थे। इस प्रकार भारतवर्ष अपनी जन शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सकने में असमर्थ रहा है।

हमारे देश में रोजगार सम्बन्धी आंकड़े एकत्रित करने का कार्य मुख्य रूप से रोजगार विनिमयालयों—(Employment Exchanges) अथवा काम दिलाऊ दफ्तरों द्वारा किया जाता है। इन कार्यालयों की स्थापना सन् 1945 में की गई। ये आंकड़े मूल रूप से शहरी क्षेत्रों से ही सम्बन्ध रखते हैं और अभी तक केवल बेरोजगारों का कुछ ही हिस्सा इन कार्यालयों में अपना पंजीयन (Registration) कराता है। निम्नांकित तालिका से इन कार्यालयों के पास प्राप्त प्रार्थना पत्रों का व्यवसाय के अनुसार वर्गीकरण स्पष्ट हो जाएगा –

व्यवसाय	प्रार्थियों की संख्या (13 दिसम्बर 1966 को)	प्रार्थियों का प्रतिशत
1. व्यावसायिक, तकनीकी व सम्बद्ध	1,53,058	5·8
2. प्रशासनिक, अधिशासी व प्रबन्ध	4,364	0·2
3. लिपिक, विपणन व संबंधित	94,316	3·6
4. कृषि, पशुपालन व सम्बद्ध	9,702	0·4
5. खनन व सम्बद्ध	2,481	0·1
6. यातायात व संवादवाहन	62,159	2·4
7. दस्तकारी एवं उद्योग	1,95,323	7·4
8. सेवा कार्य (रसोइये, चौकीदार आदि)	99,536	3·8
9. श्रमिक जिन्होंने पूर्ण अनुभव का उल्लेख नहीं किया	1,03,371	3·9

10. श्रमिक जिन्हें पूर्ण अनुभव नहीं है—		
(अ) मेट्रिक से नीचे शिक्षा प्राप्त (निरक्षरों सहित)	11,73,749	44·8
(ब) मेट्रिक से ग्रेजुएट स्तर तक शिक्षा प्राप्त	6,50,802	24.8
(स) उच्च शिक्षा प्राप्त	73 599	2·8
कुल	26,22,460	100·0

उपरोक्त तालिका से रोजगार विनिमयालयों में प्राप्त पत्रों के आधार पर विभिन्न व्यवसायों में काम चाहने वाले श्रमिकों की संख्या दी गयी है। किन्तु यह संख्या बेकारों का बहुत ही कम प्रतिनिधित्व करती है। भारतवर्ष की समस्या इससे कहीं अधिक गंभीर और विकराल है।

भारत में बेरोजगारी का स्वरूप—

भारतीय अर्थ व्यवस्था में बेरोजगारी की समस्या के अनेक पहलू हैं। यहां बेरोजगारी के विविध रूप दिए जा रहे हैं—

1. अनैच्छिक (Involuntary) बेरोजगारी—इस स्थिति में श्रमिक प्रचलित मजदूरी पर ही काम करने को तैयार होते हैं किन्तु उन्हें रोजगार अप्राप्त है। श्रम की मांग में कमी आना अथवा पूर्ति में वृद्धि होना इसका मुख्य कारण है।

2. अप्रकट (Disguised) तथा अर्द्ध (Under) बेरोजगारी—अप्रकट या अर्द्ध-बेरोजगारी का यह स्वरूप भारत में बहुत प्रचलित है। इसमें कार्यरत व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमता तक कार्य नहीं करते और व्यवसाय में से कुछ श्रमिकों को हटा लेने पर भी उत्पादन पर प्रभाव नहीं पड़ता। भारत में इस प्रकार की बेरोजगारी ग्रामीण एवं शहरी (Rural and Urban) दोनों ही क्षेत्रों में प्रचलित है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस स्थिति में श्रमिक अपने आपको अर्द्ध-बेकार

समझते हैं अर्थात् वर्तमान कार्य से अधिक कार्य करने की क्षमता रखते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में भूमि के छोटे छोटे टुकडो पर की जाने वाली कृषि में लगे कृषक एवं श्रमिक इसी श्रेणी मे आते हैं। शहरी क्षेत्र मे भी अप्रकट बेरोजगारी पाई जाती है। जिन घरो मे कार्य करने वाली स्त्रियों को पूरा कार्य नहीं मिलता वे इस श्रेणी मे सम्मिलित की जाती हैं। इस बेरोजगारी को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यवसाय मे विवेकीकरण (Rationalisation)* किया जाना चाहिये। कृषि व्यवसाय मे लगे हुए कुछ व्यक्तियों को कृषि-आधारित (Agro-based) उद्योग मे लगाकर अर्द्ध या अप्रकट बेरोजगारी को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

3. मौसमी (Seasonal) बेरोजगारी—मौसमी बेकारी भी अनैच्छिक बेरोजगारी का ही एक रूप है। भारत के कई उद्योग निरतर वर्ष भर नहीं चलते। कृषि भी अधिकांश क्षेत्रों में मौसमी (seasonal) व्यवसाय के रूप मे चलाई जाती है। कुटीर उद्योगों के अभाव मे इस बेकारी में वृद्धि हुई है। शहरी क्षेत्र मे भी कतिपय उद्योगो मे मौसमी बेरोजगारी व्याप्त है। चीनी बनाने का उद्योग, बर्फ उद्योग, खड़िया मिट्टी से चॉक (chalk) बनाने का उद्योग आदि इसके कुछ उदाहरण हैं।

4. शिक्षितवर्गीय बेरोजगारी (Unemployment amongst educated class)—देश में शिक्षित वर्ग मे व्याप्त बेरोजगारी का अत्यन्त विशाल रूप है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद जो वर्ग कार्यालयों अथवा शिक्षण संस्थाओं मे नौकरी ढूंढते हैं किन्तु उन्हें अवसर नहीं मिल पाता। ऐसे लोगों की बेरोजगारी को हम सफेद कॉलर की बेरोजगारी (White color unemployment) के नाम से भी पुकारते हैं। सन् 1966 के अंत तक रोजगार कार्यालयों में मैट्रिक से ग्रेजुएट तक शिक्षा प्राप्त बेकारों की सख्या 6 लाख 50 हजार थी।

5. तकनीकी बेरोजगारी (Technical unemployment)—उद्योगों में समय एवम् श्रम बचाने वाले आधुनिक यंत्रों के प्रयोग के कारण

*विवेकीकरण से कुछ समय तक तो बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो सकती है किन्तु दीर्घकाल मे इससे समस्या का समाधान ही होगा।

जो बेरोजगारी फैलती है उसे तकनीकी बेरोजगारी कहते हैं। भारत में जीवन बीमा निगम में स्वचालन (Automation) के कारण इस प्रकार की बेरोजगारी फैलने की संभावना है। इसलिए किसी भी व्यवसाय में विवेकीकरण करने से पूर्व इस स्थिति पर विचार कर लिया जाना चाहिए।

6 अन्य रूप—भारत में पाये जाने वाले बेरोजगारी के अन्य रूपों में मंदी परिणाम स्वरूप चक्रीय (Cyclical) बेरोजगारी, आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन के कारण बेरोजगारी (जैसे स्वर्ण नियंत्रण कानून से स्वर्णकारों में व्याप्त बेरोजगारी), प्रस्थिर (Frictional) बेरोजगारी, आदि उल्लेखनीय हैं।

कुल मिलकर भारत में बेरोजगारी के विविध स्वरूप अर्थ व्यवस्था में सर्वाधिक भयानक समस्या को जन्म देते हैं। भारतवर्ष में लाभकारी रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या कम है। शेष सभी पूर्ण बेरोजगारी, अप्रकट अथवा अर्द्ध बेरोजगारी से पीड़ित हैं।

भारत में बेरोजगारी की व्यापकता—(Extent of unemployment in India)—भारतवर्ष में बेरोजगारों की सही संख्या का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। साथ ही यह पता लगाना बहुत कठिन है कि प्रत्येक स्वरूप में बेरोजगारों की संख्या कितनी है क्योंकि ऐच्छिक, अनैच्छिक, अप्रकट, मौसमी, तकनीकी, आदि वर्गों के लिए कोई वैज्ञानिक मापदण्ड नहीं है। प्रो० अलक घोष ने अपनी पुस्तक 'Indian Economy' में प्रकट बेरोजगारी के संबंध में लिखा है कि "इस बेरोजगारी का परिमाणात्मक माप कठिन है और इसकी व्यापकता के संबंध में अनेक मत हैं।"

हमारे यहां रोजगार विनिमयालयों द्वारा एकत्रित आंकड़ों के अनुसार सन् 1966 में बेरोजगारों की पंजीकृत संख्या 27,40,435 थी। किन्तु यह संख्या मुख्यतः शहरी बेरोजगारों को ही प्रदर्शित

करती है। गाँवों की बेरोजगारी इससे कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक है।

योजना आयोग के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में लगभग 70 लाख लोग बेरोजगार थे। तृतीय योजना काल में लगभग 145 लाख रोजगार के नए अवसर जुटाए गए किन्तु इस अवधि में श्रम शक्ति में लगभग 170 लाख व्यक्तियों की वृद्धि हुई। इस प्रकार तृतीय योजना के अंत में (मार्च 1966) लगभग 95 लाख बेरोजगार थे।

बेरोजगारी के कारण—

भारत में बेरोजगारी के लिए निम्नांकित कारण उत्तरदायी हैं—

1. सामाजिक कारण—भारतीय समाज की कतिपय विशेषताओं ने बेरोजगारी की समस्या को जटिल बनाया है। संयुक्त परिवार प्रणाली ने जान-बूझकर काम न करने की प्रवृत्ति (ऐच्छिक बेरोजगारी) को जन्म दिया है। जाति प्रथा के कारण एक वर्ग के व्यक्ति दूसरे वर्ग के व्यवसायों में रुचि रखते हुए भी काम नहीं करते हैं। हमारे समाज में भिक्षावृत्ति को मान्यता दे देने के कारण भी कुछ लोग स्वेच्छा से बेकार रहना पसन्द करते हैं। सामाजिक असमानताओं तथा शीघ्र विवाह की प्रथा भी बेरोजगारी को प्रभावित करती हैं।

भारत में बेरोजगारी के कारण
1. सामाजिक कारण—संयुक्त परिवार प्रथा, जाति प्रथा, भिक्षावृत्ति आदि
2. जनसंख्या में तीव्र वृद्धि
3. कुटीर उद्योगों का ह्रास
4. दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति
5. कृषि का पिछड़ापन
6. औद्योगिक पिछड़ापन
7. अन्य कारण

2. जनसंख्या में तीव्र वृद्धि—जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है भारतवर्ष में जनसंख्या बहुत तेजी

से बढ़ रही है। लगभग 2·5 प्रतिशत की दर से प्रतिवर्ष भारत में एक आस्ट्रेलिया के बराबर जनसंख्या (लगभग 125 लाख) जुड़ जाती है। इससे श्रम शक्ति (Labour force) में वृद्धि होती है और बेरोजगारी की संख्या बढ़ती है।

3. कुटीर उद्योगों का ह्रास—प्राचीन समय में ये उद्योग उन्नत थे। कृषि पर आश्रित लोग अपने फालतू समय में इन उद्योगों में काम करते थे। किन्तु इनका पतन होने के पश्चात् हमारे कृषकों एवं कुटीर उद्योगों में लगे कारीगरों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ रहा है।

4. दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति—नवयुवकों को दी जाने वाली शिक्षा में उनकी रुचि एवं मानव-शक्ति नियोजन का ध्यान नहीं रखा जाता। परिणामस्वरूप सामान्य शिक्षा युवक लिपिक पदों या कार्यालयों में नौकरी ढूंढते हैं। तकनीकी शिक्षा का आयोजन (Planning) की दोषपूर्ण पद्धति के कारण कहीं आवश्यकता से कम और अधिकतर आवश्यकता से अधिक युवक तैयार किये जाते हैं। शिक्षा प्रणाली को हमारे आर्थिक साधनों से जोड़ना (link) पडेगा अन्यथा बेरोजगारी की यह समस्या और अधिक विषम हो जायेगी।

5. कृषि का पिछड़ापन—पिछले अध्यायों में वर्णित भारतीय कृषि के पिछड़ेपन से कृषि क्षेत्र में अप्रकट एवं अर्द्ध बेरोजगारी व्याप्त है। कृषि की प्रकृति मौसमी (Seasonal) भी है। ऐसी स्थिति में किसान वर्ष भर में लगभग चार महिने रहता है।

6. औद्योगिक पिछड़ापन—कृषि प्रधान होने पर भी कृषि का पिछड़ापन तो है साथ ही देश में पर्याप्त औद्योगीकरण भी नहीं हो पाया है। बिना औद्योगिक विकास के अधिक मात्रा में लोगों को रोजगार नहीं दिया जा सकता और उन्हें गावों में ही भूमि पर आश्रित रहना पड़ता है। इससे अर्द्ध-बेरोजगारी उत्पन्न होती है।

7. अन्य कारण—बेरोजगारी की समस्या पर आवास (Immigration) के कारण बाहर से आने वाले व्यक्तियों, श्रमिक की अगति-

शीलता, पूंजी का अभाव, अकुशल व अशिक्षित श्रमिकों का बाहुल्य आदि बातों का भी बहुत प्रभाव पड़ा है।

उपरोक्त कारणों ने देश में बेरोजगारी की समस्या को बहुत प्रभावित किया है। वर्तमान ढांचे में भारत के लिए यह आसान नहीं है कि वह निकट भविष्य में पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थिति प्राप्त कर ले। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में रोजगार के बहुत से अवसर जुटाने पर भी योजना के अन्त में बेकारों की संख्या योजना के प्रारम्भिक वर्ष की तुलना में अधिक होती है। भारतवर्ष के आर्थिक विकास के समक्ष यह बहुत बड़ी चुनौती (Challange) है।

पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी निवारण के प्रयत्न—

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी सरकार ने निर्धनता, बेरोजगारी खाद्यान्नों की कमी, आदि आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए सन् 1950 में योजना आयोग का गठन करके सन् 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात किया। यहाँ हम बेरोजगारी को दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नों का अध्ययन करेंगे।

प्रथम योजना में एक ग्यारह सूत्री (Eleven point) कार्यक्रम सन् 1953 में बनाया गया जिसके अन्तर्गत बेरोजगारी को दूर करने के प्रयत्नों का उल्लेख है। प्रथम योजना में प्रत्यक्ष रूप से 45 लाख लोगों को ही काम दिया जा सका।

द्वितीय योजना के प्रारम्भ में बेकारी की समस्या का स्वरूप अत्यन्त जटिल था। प्रथम योजना के अन्त में लगभग 53 लाख लोग बेरोजगार थे। इस योजना में 100 लाख व्यक्तियों से श्रम शक्ति और बढ़ जाने का अनुमान था इस प्रकार योजना में कुल 153 लाख रोजगारों की आवश्यकता थी। जबकि योजनाकाल में केवल 65 लाख लोगों को ही (गैर-कृषि क्षेत्र में) रोजगार दिया जा सका और योजना के अन्त में बेरोजगार लोगों की संख्या 70 लाख थी।*

*Fourth F. Y. Plan Draft outline, p. 106

तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट किया गया कि रोजगार प्रदान करना भारतीय नियोजन का एक मुख्य लक्ष्य है। योजना के प्रारम्भ में लगभग 70 लाख बेरोजगार थे। इस योजना के दौरान 145 लाख रोजगार के अवसर जुटाये गए किन्तु इस अवधि में श्रमशक्ति में लगभग 170 लाख व्यक्तियों से वृद्धि हुई। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्त में बेरोजगारी के सम्बन्ध में एक त्रिमुखी कार्यक्रम लागू किया गया जिसके अन्तर्गत रोजगार के प्रभावों में अधिक व्यापकता व संतुलन लाने के प्रयास, ग्रामीण विकास कार्यों में जनशक्ति का प्रभावपूर्ण उपयोग तथा ग्रामीण कार्यों का संगठन करना सम्मिलित है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—योजना में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में रोजगार प्रदान करने के विशेष कार्यक्रम तैयार किये जायेंगे। योजना आयोग के अनुसार इस अवधि में (चतुर्थ योजना की अवधि में) श्रम शक्ति में 230 लाख व्यक्ति जुड़ जाएंगे। तृतीय योजना के अन्त में लगभग 95 लाख बेरोजगार थे ही। इस प्रकार चौथी योजना में कुल रोजगार तलाश करने वालों की संख्या लगभग 325 लाख होगी। योजना में लगभग 140 लाख बेरोजगार गैर-कृषि तथा 45 से 50 लाख रोजगार कृषि क्षेत्र में प्रदान किये जाएंगे। इनके अतिरिक्त ग्रामीण कार्य योजनाओं से 15 लाख लोगों को 100 दिवस प्रति वर्ष के हिसाब से कार्य देने की व्यवस्था है। जनसंख्या के अधिक घनत्व (Density) वाले क्षेत्रों तथा अत्यन्त पिछड़े हुए क्षेत्रों में इन कार्यक्रमों के लिए विशिष्ट कार्यक्रम चलाए जाएंगे।

योजनाओं में रोजगार प्रदान करने के बहुत प्रयत्न किये गये किन्तु फिर भी प्रत्येक योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या पहले से अधिक रही। इसलिए इस समस्या के हल के कुछ और अधिक प्रभावशाली प्रयत्न किये जाने चाहियें।

सुझाव—

बेरोजगारी को दूर करने के लिए कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं—

1. जनसंख्या नियन्त्रण (Population Control) के लिए परिवार नियोजन (Family Plannig), देर से विवाह (Late marriages) आर्थिक विकास, शिक्षा का प्रसार, आदि उपाय किये जाने चाहिये जिससे बेरोजगारी पर काबू किया जा सके।

सुझाव—

1. जनसंख्या नियन्त्रण
2. कुटीर उद्योगो का विकास
3. कृषि की उन्नति
4. शिक्षा प्रणाली मे सुधार
5. सामाजिक परिवर्तन
6. औद्योगिक विकास
7. रोजगार विनिमयालाओं का विकास
8. ग्रामो मे सुविधाएं
9. निर्माण कार्यों का विकास
10. समाज सेवाओं का प्रसार

2. भारत मे कुटीर उद्योगो का पुनरुत्थान एव लघु उद्योगो की स्थापना की जानी चाहिए। इन उद्योगो से कृषि क्षेत्र में फैली हुई अर्द्ध-बेरोजगारी एव मौसमी बेरोजगारी को समाप्त करने में सहायता मिलेगी।

3 कृषि की उन्नति के बिना भारत में पूर्ण रोजगार की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हो सकती। सघन कृषि, वैज्ञानिक कृषि, सिचाई का विकास, कृषि की विकसित की विकसित पद्धति आदि की सहायता से कृषि क्षेत्र मे अधिक रोजगार प्रदान किये जाने चाहिये। हमारी सरकार पचवर्षीय योजना में कृषि विकास पर बहुत ध्यान दे रही है।

4. शिक्षा प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तनो के बिना इस समस्या का उचित हल सम्भव नहीं है। देश के विभिन्न क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, यातायात, सेवा व्यवसाय, आदि) की आवश्यकताओ के अनुरूप श्रम शक्ति तैयार हो सके ऐसा समन्वय किया जाना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा का सम्बन्ध आर्थिक विकास से जोड़ा जाना चाहिए।

5. सामाजिक परिवर्तन—हमारे सामाजिक जीवन की पद्धति एव

दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। शिक्षा के प्रसार एवं समय की आवश्यकता के अनुरूप ये परिवर्तन आ रहे हैं।

6 औद्योगिक विकास ही एक मात्र सशक्त दीर्घकाल उपाय है जिससे बेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है। औद्योगीकरण से अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था की जा सकेगी जिससे भूमि पर जनसंख्या के भार में कमी होगी। औद्योगिकरण से पूंजी का अधिक निर्माण होगा इससे और अधिक विनियोग (Investment) होगा। अधिक विनियोग से अधिक रोजगार मिलेगा। यद्यपि औद्योगीकरण से कुछ क्षेत्रों में मानव श्रम को बचाने वाले तरीके अपनाना आवश्यक हो जाता है किन्तु अन्य क्षेत्रों में सावधानी बरत कर अधिक से अधिक लोगों को रोजगार दिया जा सकता है।

7. रोजगार विनिमयालयों का क्षेत्र शहरों से बढ़ाकर गांवों में भी कर दिया जाना चाहिए। इनके द्वारा बेरोजगारी एवं रोजगार के सम्बन्ध में अधिक आंकड़ों का संकलन कर समस्या के समाधान के प्रयत्न किये जाने चाहिए।

8. ग्रामों में सुविधाएं प्रदान कर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के हर सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। गांवों में बिजली, यातायात, सहकारी संस्थाओं की स्थापना आदि सुविधाओं का विस्तार करके आंशिक बेरोजगारी को दूर करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये।

9. गांवों में निर्माण कार्यों को बढ़ाया जाना चाहिए ताकि किसान को फालतू समय में रोजगार मिल सके। अन्य देशों में इस प्रकार के अनेक कार्य सरकार द्वारा चलाये जाते हैं।

10. देश में सामाजिक सेवाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। शिक्षा, चिकित्सा, मकान, समाज कल्याण केन्द्र, सामाजिक सुरक्षा आदि के विस्तार से ग्रामवासियों को लाभ तो मिलेगा ही साथ ही बेरोजगारी की समस्या के निवारण में भी योग मिलेगा।

सारांश

भारत में बेरोजगारी की समस्या बहुत गम्भीर है और इसने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है।

बेरोजगारी का अर्थ—काम करने योग्य व इच्छुक व्यक्तियों को आर्थिक कार्य न मिलना ही बेरोजगारी कहलाता है।

भारत में रोजगार की अवस्था 1961 की जनगणना के अनुसार 13 प्रतिशत लोग बेरोजगार थे।

भारत में बेरोजगारी का स्वरूप—(1) अनैच्छिक बेरोजगारी, (2) अप्रकट तथा अर्द्ध बेरोजगारी, (3) मौसमी बेरोजगारी, (4) शिक्षित वर्गीय बेरोजगारी, (5) तकनीकी बेरोजगारी, (6) अन्य रूप।

भारत में बेरोजगारी की व्यापकता—तृतीय योजना के अन्त में, (मार्च 1966) लगभग 95 लाख लोग बेरोजगार थे।

बेरोजगारी के कारण—(1) सामाजिक कारण—संयुक्त परिवार प्रथा, जाति, प्रथा, भिक्षावृत्ति आदि, (2) जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, (3) कुटीर उद्योगों का ह्रास, (4) दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति, (5) कृषि का पिछड़ापन, (6) औद्योगिक पिछड़ापन, (7) अन्य कारण।

पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी निवारण के प्रयत्न—

प्रथम योजना में—प्रत्यक्ष रूप से 45 लाख लोगों को ही काम दिया गया।

द्वितीय योजना में—65 लाख लोगों को रोजगार दिया गया।

तृतीय योजना में—145 लाख लोगों को रोजगार दिया गया।

चतुर्थ योजना में—190 लाख लोगों को रोजगार देने का लक्ष्य रखा गया।

सुझाव—(1) जनसंख्या नियन्त्रण, (2) कुटीर उद्योगों का विकास, (3) कृषि की उन्नति, (4) शिक्षा प्रणाली में सुधार, (5) सामाजिक

परिवर्तन, (6) औद्योगिक विकास, (7) रोजगार विनिमयालयों का विकास, (8) ग्रामों में सुविधायें, (9) निर्माण कार्यों का विकास, (10) समाज सेवाओं का प्रसार ।

प्रश्न

1. बेरोजगारी का तात्पर्य क्या है ? क्या भारत में बेरोजगारी है, यदि है तो क्यों ?
2. भारत में कितनी किस्म की बेरोजगारी पाई जाती है उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दीजिये ।
3. बेरोजगारी को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासों की आलोचना कीजिये ।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

   (i) अप्रकट बेरोजगारी

   (ii) मौसमी बेरोजगारी ।

अध्याय 18

भारत में आर्थिक नियोजन—I

ECONOMIC PLANNING IN INDIA—1

"नियोजन वर्तमान युग के आर्थिक दोषों की अचूक रामवाण औषधि है।"

रॉबिन्स

बीसवीं सदी के आरम्भ तक अधिकांश राष्ट्र 'स्वतन्त्र व्यापार नीति' और आर्थिक स्वतन्त्रता के समर्थक रहे किन्तु पिछली अर्द्ध-शताब्दी में रूस की क्रान्ति, सन् 1929-32 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, दो भीषण महायुद्धों, तथा उपनिवेशवाद (Colonialism) की समाप्ति आदि के कारण राष्ट्रों एवं अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन के

महत्व को समझा और किसी अंश में इसे अपनाना आरम्भ किया। आज का युग "नियोजन का युग" है। संसार के लगभग सभी देश अपने विकास व उन्नति के लिए आर्थिक नियोजन में जुटे हुए हैं।

आर्थिक नियोजन की परिभाषा (Definition)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने नियोजन की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं। उनमें से कुछ हम यहां उद्धृत करेंगे।

श्री एच० डी० डिकिंसन (H. D. Dickinson) के शब्दों में, "क्या और कितना उत्पादन किया जाय, कहां, कैसे और कब उसका उत्पादन किया जाय, तथा उसका बंटवारा किसमें किया जाय—के विषय में निश्चित अधिकारी द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था की व्यापक परीक्षा के पश्चात् सचेत तथा महत्वपूर्ण निर्णय करने को आर्थिक नियोजन कहते हैं।"

प्रो० एल० लर्विन (L. Lorwin) के अनुसार, "नियोजन वह आर्थिक संगठन है जिसमें एक निश्चित अवधि के भीतर जनता की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति के उद्देश्य से समस्त उपलब्ध साधनों के उपयोग के सभी व्यक्ति तथा फर्म, व्यवसाय तथा उद्योग सम्पूर्ण इकाई के समुचित अंग समझे जाते हैं।"

भारतीय योजना आयोग (Indian Planning Commission)—ने आर्थिक नियोजन की परिभाषा इस प्रकार दी है—'नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है जिसके माध्यम से साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। नियोजन की विचारधारा में दो तत्व निहित हैं—(अ) उद्देश्यों का एक क्रम जिनकी पूर्ति का प्रयास किया जाए तथा (ब) वर्तमान साधनों का ज्ञान तथा उनका सर्वोत्तम आवंटन (Optimum allocation)।"

संक्षेप में, आर्थिक नियोजन सरकार अथवा उसके द्वारा मान्य एक विशिष्ट योजना आयोग द्वारा पूर्व निश्चित कार्य-प्रणाली है जिसके अनुसार वह कुछ मान्य सामाजिक एवम् आर्थिक लक्ष्यों (Social and

Econoomic objects) की प्राप्ति के लिए देश के आर्थिक साधनों का उचित व अधिकतम (maximum) उपभोग तथा विदोहन (Exploitation) और उत्पादित राष्ट्रीय आय (National Income) का उचित वितरण करती है। किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधनों का विधिवत् व अधिकतम उपयोग ही नियोजन है।

आर्थिक नियोजन की विशेषतायें

(Characteristics of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन की मुख्य मुख्य विशेषतायें अथवा तत्व निम्न प्रकार हैं—

1. आर्थिक नियोजन आर्थिक संगठन की एक पद्धति है।

2. राष्ट्रीय साधनों (Resources) का तांत्रिक समन्वय (Technical co-operation) एक निर्धारित नीति के अनुसार ढग से होता है। अनियोजित व्यवस्था में साधनों का अविवेकपूर्ण प्रयोग होने से साधन व्यर्थ में बर्बाद होते हैं।

नियोजन की विशेषताएं
1. आर्थिक संगठन की एक पद्धति
2. साधनों का तांत्रिक समन्वय
3. योग्य एवं वैधानिक अधिकारी या संस्था
4. आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य
5. प्राथमिकता के आधार पर साधनों का वितरण
6. निश्चित अवधि
7. साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग

3. नियोजन के लिए एक योग्य एवं वैधानिक (legal) अधिकारी अथवा संस्था होती है जो साधनों का अनुमान लगाकर, लक्ष्य निर्धारण करती है, उनकी पूर्ति के ढंग निकालती है, योजना का ढांचा बनाती है एवं योजना को कार्यान्वित करती है।

4. नियोजन राष्ट्र की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

5. नियोजन मे साधनो का वितरण विभिन्न कार्यों मे प्राथमिकता (priority) के अनुसार किया जाता है।

6 लक्ष्यों (targets) की पूर्ति हेतु एक निश्चित अवधि होती है।

7. प्रयत्न संगठित एव सुव्यवस्थित होते हैं और उनमें परस्पर समन्वय (co ordinaiton) होता है।

8. राष्ट्र से वर्तमान तथा सम्भाव्य साधनो का विवेकपूर्ण उपयोग उत्पादन को अधिकतम स्तर पर लाने के लिये किया जाता है।

नियोजन की अनिवार्यताएं (Essentials of Planning)—

नियोजन की आवश्यकतायें

1. निश्चित उद्देश्य
2. निश्चित शक्तिशाली अधिकारी
3. आकड़ों का संकलन
4. पूंजी
5 तान्त्रिक समन्वय
6. कार्यक्रमों का निर्धारण
7. सरकारी एवं निजी क्षेत्र
8. योजना की विज्ञप्ति
9. संचालन तथा निरीक्षण
10. जनता का सहयोग

विभिन्न राष्ट्रों के अनुभव के आधार पर नियोजन की कुछ आवश्यकताएं (pre-requisities) मानी जाती हैं जिनके बिना नियोजन सफल नहीं हो सकता। उनमें से निम्नलिखित प्रमुख अनिवार्यताएं हैं।

1. निश्चित उद्देश्य—नियोजन के कुछ विशिष्ट आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य होने चाहिये जो सामाजिक रहन-सहन के स्तर, संस्कृति एवं प्राचीन आदर्शों के अनुकूल हों।

2 निश्चित, शक्तिशाली अधिकारी—योजना को कार्यान्वित करने के लिए जो अधिकारी अथवा संस्था नियुक्त की जाय उसके करने एवं अधिकार निश्चित एवं विस्तृत होने चाहिये।

3. आंकड़ों (Statistics) का संकलन—योजना प्रारम्भ करने से पूर्व देश के खनिज साधनो, शक्ति स्रोतो, जनसंख्या, राष्ट्रीय आय, कृषि

आदि से संबंधित आंकड़ों का संकलन (collection of statistics) आवश्यक है जिनकी सहायता से उत्पादन लक्ष्य एवं व्यय आदि निश्चित किये जा सकें।

4. पूंजी—आर्थिक नियोजन की आत्मा पूंजी है। पूंजी से तात्पर्य उन सब साधनों (resources), द्रव्य तथा वस्तुओं से है जो वस्तुओं के उत्पादन में सहयोग दें। इनकी अधिकतम मात्रा प्राप्त की जानी चाहिए।

5. तांत्रिक समन्वय—उत्पादनों के साधनों का, उनकी प्राप्ति एवं गुणों को ध्यान में रखते हुए, तांत्रिक समन्वय (technical co-operation) किया जाना आवश्यक है।

6. कार्यक्रमों का निर्धारण—उत्पादन कार्य, मापकों का संगठन, मजदूरों की आवश्यकता आदि प्रत्येक कार्यक्रम पूर्व निश्चित होना चाहिए।

7. सरकारी (Public) एवं निजी (Private) क्षेत्र—सरकारी नियंत्रण एवं उत्पादन तथा निजी क्षेत्र के उत्पादन का पूर्व निश्चय किया जाना चाहिए।

8. योजना की विज्ञप्ति (Publicity)—देश की जनता एवं विशेषज्ञों को योजना के कार्यक्रमों का विस्तृत विवरण मिलना चाहिए जिससे वे उन पर विचार कर सुझाव तथा सहयोग दे सकें।

9. योजना का संचालन तथा प्रगति का निरीक्षण भली भांति होना चाहिए।

(10) जनता का सहयोग भी योजना की सफलता के लिये आवश्यक है।

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता
(Need of Economic Planning)

आर्थिक आयोजन के लाभ व हानि के ऊपर अर्थशास्त्रियों में काफी

मतभेद रहा है। प्रारम्भ मे यूरोप तथा अमेरिका के अधिकांश राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री आर्थिक नियोजन के विरुद्ध थे। इस विषय में इगलैंड की श्रीमती बारबरा वूटन (Mrs Barbara Wootton) ने 'नियोजन क्यों ?' (Why Plan) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। प्रायः यह प्रश्न उठता है कि नियोजन क्यों किया जाय ? सिद्धांतः तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्यवसाय चलाने, आय प्राप्त करने, आर्थिक साधनों, जैसे—भूमि, पूंजी, मजदूरी आदि—का उपयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सरकार को सुरक्षा एवं न्याय व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु व्यवहारिक रूप में शनैः शनैः सभी सरकारें आर्थिक नियोजन की ओर आकर्षित हुई हैं। नियोजन को बढ़ावा देने एव उसे आवश्यक बनाने मे निम्न बातों का प्रमुख योग रहा है।

1. पूंजीवाद के दोष (Evils of Capitalism)—पश्चिमी राष्ट्रों की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था (Capitalist Economy) में उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं का स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की अनुमति थी। पर इससे हर व्यक्ति अधिक से अधिक लाभ कमाने के लोभवश दूसरो की परवाह नहीं करता था। अतः आर्थिक व सामाजिक असमानता (Economic and social inequalities), मजदूरों का शोषण, साधनों का अपव्यय आदि दोष पैदा हो गए। इन्हें मिटाने के लिए नियोजन ही एकमात्र उपाय था।

2. व्यापार चक्र (Trade Cycles)—अनियोजित स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत उत्पादक अपने लाभ का ध्यान रखते हुए कभी आवश्यकता से अधिक पैदा करते हैं तो कभी कम। अतः कभी देश में बहुत अधिक उत्पादन हो जाता है और कभी बहुत कम। इससे आर्थिक अस्थिरता (instability) आती रहती है। इसे दूर करने का एकमात्र उपाय उत्पादन का नियोजन है, जिसे सभी सरकारों ने अपनाया है।

3. आर्थिक संकट (Economic Depression)—सन् 1929 में अमेरिका में अत्यधिक सट्टे एवं तत्पश्चात् भावों में गिरावट के फलस्वरूप

सारे संसार में उत्पादन एवं वस्तुओं के मूल्य गिर गये। अतः सरकारों को उत्पादन क्षेत्र में भाग लेना पड़ा और उन्होंने नियोजन को अपनाया।

4. महायुद्ध (World War)—प्रथम और द्वितीय महायुद्धों में आवश्यक युद्ध सामग्री उत्पादन करने के लिए सरकारों ने नियोजन का सहारा लिया, क्योंकि व्यक्तिगत उत्पादक और पूंजीपति युद्ध का आवश्यक सामान तैयार करने में असमर्थ थे।

5. रूस की सफलता (Success of Russia)—रूस ने पंचवर्षीय योजनाओं की सहायता से आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति की और इससे संसार के अन्य देशों को भी नियोजन के लिए प्रोत्साहन मिला।

6. अर्द्ध-विकसित देश (Under-developed Countries)—हाल ही में स्वतन्त्र हुए उपनिवेश (colonies) बहुत गरीब हैं तथा "स्वतन्त्र साहस" के आधार पर प्रगति करना उनके लिए असम्भव है। उनके पास न पर्याप्त पूंजी है, न विशेषज्ञ (experts), उनके साधन अविकसित हैं। अतः उन्होंने अपने विकास तथा प्रगति के लिए आर्थिक नियोजन का ही सहारा लिया।

7. अर्थ शास्त्रियों द्वारा मान्यता (Acceptance by Economists)—लगभग सभी आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक नियोजन के पक्ष में हैं और उन्होंने सरकारों को नियोजन अपनाने का परामर्श दिया है।

अब हम नियोजन से होने वाले लाभों (Advantages) का सोदाहरण विवेचन करेंगे—

1. निर्धनता का शीघ्र निवारण (Speedy removal of poverty)—नियोजन के अन्तर्गत सरकार राष्ट्र के साधनों का पूर्ण उपयोग करके उत्पादन बढ़ाती है, अधिक उत्पादन के फलस्वरूप जनता को अधिक एवं सस्ती वस्तुएं उपलब्ध होती हैं और वे गरीबी से छुटकारा पाते हैं। नियोजन के अन्तर्गत वस्तुओं एवं धन का सही और समान वितरण होता है अतः देश में खुशहाली बढ़ती है। सोवियत संघ एवं

भारत में आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप गरीबी दूर करने की दि
लगातार प्रगति हो रही है।

2. समानता की प्राप्ति (Establishment of Equality
आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत सरकार देश के गरीब वर्ग की ओर अ
ध्यान देती है। धनिकों पर अधिक कर(taxes) लगाये जाते हैं और
द्रव्य गरीबों की भलाई पर खर्च किया जाता है।

3. राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण एवं सही प्रयोग (Maximum
Proper utilisation of national resources)—स्वतन्त्र पूँजीव
प्रणाली में हर व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने साधनों-धन, भूमि, मशी
मजदूर-का उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करता है और प्रति
गिता के कारण इनका अपव्यय एवं विनाश होता है। नियोजन द्
सरकार साधनों का सदुपयोग देश के हित में करती है तथा उनका
समन्वय करने का यत्न करती है। इससे सारे देश को लाभ होता है

4. बेरोजगारी की समस्या का हल (Solution of the proble
of unemployment)—सरकार योजना बनाकर राष्ट्र में बेरोज
व्यक्तियों को काम दिलाने की व्यवस्था करती है। द्वितीय महायुद्ध
बाद इंग्लैंड, अमेरिका तथा अन्य यूरोपीय देशों ने बेरोजगारी की समस्
का हल करने के लिए नियोजन का सहारा लिया। भारत में भी योज
नाओं के अन्तर्गत रोजगार दिलाने के दफ्तर (Employment Excha
nge) कार्य कर रहे हैं।

5. सामाजिक न्याय एवं सुरक्षा (Social justice & security)-
नियोजन के निर्माण स्वरूप, समाज के सभी वर्ग स्वयं बनाए हुए कार्
अपनी स्वतन्त्रता कायम रखते हैं तथा सामाजिक अन्याय नहीं होता है
नियोजन के फलस्वरूप समाज के दलित वर्गों के उत्थान एवं सुरक्षा की
ओर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार से भी ऊँच उठते हैं।

6. नैतिक सुधार (moral upliftment)—आर्थिक समृद्धि का
का राष्ट्र के चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। अतः आर्थिक

बुराइयाँ, जैसे जुआ, चोरी, झगड़े, डाकाजनी आदि कम हो जाती है तथा राष्ट्रवासियों का नैतिक स्तर (moral standard) ऊँचा उठता है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं प्रगति (International peace and progress)—जब संसार के राष्ट्रों के मध्य अधिक आर्थिक असमानता (economic inequality) नहीं होती तो वे एक दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण वातावरण मे रहते हैं। धनी और गरीब देश का अंतर मिटने पर आपसी ईर्ष्या, वैमनस्य, भेदभाव कम हो जायगा और राष्ट्रों मे अधिक सद्भाव, मित्रता, प्रेम एव सुरक्षा की भावना बढ़ेगी।

नियोजन का संक्षिप्त इतिहास

आर्थिक नियोजन के क्रमिक विकास का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। उन्नीसवीं सदी के अन्त मे पूँजीवाद (Capitalism) की कठिनाइयों को महसूस कर लिया गया था। सन् 1910 मे नार्वे के प्रोफेसर क्रिस्टियन-सोन्डेयडर ने नियोजन की महत्ता पर प्रकाश डाला। प्रथम महायुद्ध काल मे जापान एवम् ग्रेट ब्रिटेन मे इस पद्धति का सहारा लिया गया किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद इस विचारधारा का परित्याग कर दिया गया।

रूस की लाल क्रांति (Red Revolution) के बाद वहाँ की अर्थ-व्यवस्था ठीक करने के लिए सन 1928 मे आर्थिक नियोजन को पंच-वर्षीय योजना के रूप से प्रारम्भ किया गया। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य रूस को कृषि प्रधान देश के स्थान पर औद्योगिक राष्ट्र के रूप मे बदल देना था। प्रारम्भ मे लोगों ने इसे हास्यास्पद समझा, किन्तु सन् 1930 की विश्वव्यापी मन्दी (Depression) ने विश्व भर मे नियोजन की विचारधारा अपनाने को बाध्य कर दिया। इसी समय जर्मनी और फासिस्ट इटली मे भी युद्ध की तैयारी के लिए आर्थिक नियोजन का सहारा लिया गया।

द्वितीय महायुद्ध काल और युद्धोत्तर काल मे विभिन्न देशों ने अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं का संतुलन बनाये रखने के लिये नियोजन का सहारा

लिया। अमेरिका ने भी 'मार्शल प्लान' का सहारा लेकर अर्थ-व्यव
को पुनसगठित करने का निश्चय किया।

अब प्राय: सभी देशों में, चाहे पूंजीवादी, समाजवादी या मि
अर्थ-व्यवस्था वाले देश हों, नियोजन की विचारधारा को स्वीकार
लिया गया है। प्रो. रॉबिन्स ने ठीक ही कहा है, "नियोजन हमारे
की सभी आर्थिक रोगों की रामबाण औषधि है।"

भारत में आर्थिक नियोजन (Planning in India)

वर्तमान काल में भारत प्रजातांत्रिक नियोजन का परीक्षण-स्थल
गया है। भारत में नियोजित विकास का प्रारम्भ वैसे तो सन् 1951
होता है, जबकि राष्ट्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ क
परन्तु इससे पूर्व सन् 1944 'बम्बई योजना' (Bombay Plan
'जनता योजना' (People's Plan) और 'गांधी योजना' (Gandhi
Plan) आदि प्रकाशित किये जा चुके थे। सन् 1947 में जब दे
स्वतन्त्र हुआ, उस समय द्वितीय महायुद्ध एवं देश के विभाजन के कार
देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी। ब्रिटिश सरकार ने भा
के सुनियोजित आर्थिक विकास पर कभी पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दि
था। इन सब विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार भारत में आर्थिक नियोज
प्रारम्भ किया गया।

भारत में नियोजन की आवश्यकता
(Need of Planning in India)

भारत में नियोजन की आवश्यकता पर सर्व प्रथम सन् 1937
श्री एम विश्वेश्वरैया (Shri M. Visvesaryya) ने बल दिया था
इसके अतिरिक्त कांग्रेस पार्टी ने रूस के प्रयत्नों से प्रभावित होक
नियोजन की आवश्यकता अनुभव की। भारत में आर्थिक नियोजन की
आवश्यकता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(1) देश की दरिद्र
(2) विभाजन से उत्पादन आर्थिक असन्तुलन तथा अन्य समस्याएँ
(3) बेरोजगारी की समस्या, (4) औद्योगीकरण की आवश्यकता
(5) सामाजिक तथा आर्थिक विषमतायें।

भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्य (Objects of Economic Planning in India)

भारतीय योजना आयोग के अनुसार भारत मे आयोजित विकास के मोटे तौर पर दो उद्देश्य (Objects) हैं —

1. उत्पादन में वृद्धि और रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना, तथा

2. स्वतंत्रता एवं लोकतन्त्र के मूल्यों पर आधारित ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का विकास, जिसमें 'राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो।"

विस्तृत रूप से भारत में आर्थिक नियोजन के लक्ष्य ये हैं—

1. राष्ट्रीय आय में अधिकतम वृद्धि जिससे कि प्रति व्यक्ति औसत आय (per capita income) बढ़ाई जा सके।

2. तीव्र औद्योगिक तथा आधारभूत उद्योगों (basic industries) का शीघ्र विकास।

3. अधिकतम रोजगार (employment)

4. आय की असमानताओं में कमी तथा धन का अधिक समान वितरण, तथा

5. देश में समाजवादी ढंग पर आधारित समाज (Socialistic pattern of society) का निर्माण।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये देश के साधनों का पूर्ण विकास किया जा रहा है और सरकार आर्थिक नियन्त्रण रखती है।

भारतीय नियोजन की विशेषताएं

भारतवर्ष की पंचवर्षीय योजनाओं के अध्ययन से भारतीय नियोजन की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं स्पष्ट हो जायेंगी। ये विशेषताएं निम्नांकित हैं—

1 प्रजातान्त्रिक नियोजन (Democratic planning)—इसमें प्रजातांत्रिक नियोजन को अपनाया है जिसमें पूंजीवाद एवं समाजवाद दोनों के मार्गों को प्राप्त करने का उद्देश्य होता है। भारत विश्व का प्रथम देश है जिसने इस प्रकार का नियोजन पूर्ण रूप से अपनाया है। इसमें स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था (Laissez Faire) तथा शक्ति के केन्द्रीकरण (Regimentation of power) के बीच का मार्ग अपनाया गया है।

प्रजातांत्रिक प्रणाली में समाजवाद (Socialism) के अच्छे तत्वों को प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी बनी रहती है। इस प्रकार के नियोजन में सार्वजनिक (public) एवं निजी (private) दोनों क्षेत्रों में काम होता है।

भारत ने प्रजातांत्रिक प्रणाली के अन्तर्गत नियोजन को अपनाकर विश्व के समक्ष एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया है। नियोजन की सफलता के लिए समाज और व्यक्ति दोनों के हितों का समन्वय प्रजातन्त्र में ही हो सकता है। इस दृष्टि से भारत का यह प्रयास विश्व के नियोजन के इतिहास में नया अध्याय प्रारम्भ कर रहा है।

2 नियोजन तन्त्र (Planning machinery)—पिछले पृष्ठों में हमने देखा था कि नियोजन की सफलता के लिए एक सुदृढ़ एवं व्यवस्थित नियोजन संगठन की आवश्यकता होती है। हमारे देश में शृंखलाबद्ध नियोजन को अपनाने की दृष्टि से 15 मार्च सन् 1950 को तत्कालीन प्रधान मन्त्री स्व० श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग (Planning Commission) का गठन किया गया। इसकी वर्तमान अध्यक्षा श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा उपाध्यक्ष श्री डी. आर. गाडगिल हैं। यह आयोग देश के समस्त साधनों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की सहायता से आर्थिक विकास की योजनाएं तैयार करता है। राज्य सरकारें अपने राज्य से सम्बन्धित योजनाओं के प्रस्ताव जिला एवं पंचायत राज संगठनों से एकत्रित करके योजना आयोग के पास भेजती हैं। योजना आयोग इन योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए उपयुक्त

। करती है। योजना आयोग ही पंचवर्षीय योजनाओं से संबंधित
ंन (Evaluation) का कार्य करता है। योजना आयोग केन्द्रीय
र एवं राज्य सरकारों से प्राप्त योजनाओं को एकत्रित कर एक
योजना तैयार करता है और उसे स्वीकृति के लिए लोक सभा,
विकास परिषद् (National Development Council) तथा
ाधारण के समक्ष रखता है। योजना आयोग के अनेक विभाग हैं
योजन से सम्बन्धित कार्य करते हैं। साधन एवं आर्थिक सर्वेक्षण
, वित्त विभाग, खाद्य एवं कृषि विभाग, विकास एवं प्राकृतिक
विभाग, उद्योग, व्यापार एवं यातायात विभाग, रोजगार एवं
सेवा विभाग, योजना आयोग के उल्लेखनीय अंग हैं। इनके अति-
मन्वय विभाग, साधारण विभाग, विषय विभाग, विशिष्ट विकास
आदि भी योजना आयोग के भिन्न-भिन्न अंग हैं। इस प्रकार
ं यहाँ योजना आयोग के रूप में एक सशक्त नियोजन का संगठन
। जनतांत्रिक ढंग पर योजनाएं तैयार करता है।

3. समाजवादी समाज की रचना (Socialistic Pattern of
iety)—प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता से प्रभावित होकर
ीय योजना के निर्माण के समय हमारे संविधान के निर्देशक तत्वों
नुरूप सरकार ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का निर्णय
ा जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय को राष्ट्रीय जीवन
तिष्ठित करे। इस प्रकार के समाज की रचना नियोजन का मुख्य
ार मानी गई। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक व सामा-
क समानता के अवसर प्राप्त करवाने एवं धन तथा आय की
मताओं को दूर करने के लक्ष्य रखे गये।

इस प्रकार के समाज की रचना का सिद्धान्त किसी एक या दूसरे
(Ism) से जुड़ा हुआ नहीं है वरन् मिश्रित अर्थ व्यवस्था की
ीवन प्रणाली के भीतर ही आर्थिक विषमताओं को दूर करने के
लोकतांत्रिक पद्धति से सम्बन्धित है।

समाजवादी समाज की रचना के मूल उद्देश्य निम्नांकित हैं:—

(अ) बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय प्रदान करना;

(आ) रोजगार के पूर्ण एवं लाभप्रद अवसर प्रदान करना;

(इ) राष्ट्रीय साधनों का समुचित उपयोग करने हेतु मुख्य उत्पादन क्षेत्रों पर सार्वजनिक अधिकार अथवा नियंत्रण स्थापित करना;

(ई) आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना;

(उ) अपेक्षाकृत कम सम्पन्न लोगों को आर्थिक विकास के अवसर प्रदान करना; तथा

(ऊ) उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शांतिपूर्ण जनतन्त्रात्मक उपायों का प्रयोग करना।

उपरोक्त उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि हमारे यहाँ समाजवादी समाज की रचना लोकतांत्रिक ढंग पर करना चाहते हैं जिसमें निजी क्षेत्र (Private Sector) का भी पूरा सहयोग लिया जायेगा।

समाजवादी समाज की संरचना के लिये सरकार ने पंचायती राज की स्थापना, नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार, जीवन बीमा एवं कतिपय बैंकिंग कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, सहकारी कृषि को प्रोत्साहन, प्रगतिशील कर प्रणाली आदि उपायों का सहारा लिया है। यद्यपि इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई है फिर भी भारत के करोड़ों लोगों की आशा इस समाजवाद की सफलता पर ही निर्भर है।

4. निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों की विद्यमानता (Presence of Private and Public Sectors)—प्रजातांत्रिक नियोजन प्रणाली के अन्तर्गत मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को व्यावहारिक महत्व प्रदान करने के लिए ही सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को दो क्षेत्रों (Sectors)—निजी एवं सार्वजनिक में बाँट दिया गया है। परन्तु ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे के

पूरक (Complimentary) हैं। मिश्रित अर्थ व्यवस्था को अपनाने का मूल आधार यह है कि निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों के लाभ तथा सन्तुलित आर्थिक नियोजन की विधि से देश का आर्थिक नव निर्माण किया जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)—इस क्षेत्र के अन्तर्गत उत्पादन तथा वितरण पर सरकारी नियन्त्रण होता है। इस क्षेत्र के विस्तार से अर्थ-व्यवस्था में इन लाभों की प्राप्ति होती है—(अ) आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण (आ) आर्थिक नियोजन के लक्ष्यों की प्राप्ति (इ) नवीन आर्थिक संस्थाओं का विकास (ई) सामाजिक कल्याण सम्बन्धी लोकोपयोगी संगठनों का विकास (उ) आर्थिक विकास की समन्वित योजना (ऊ) वित्तीय साधनों का अधिकतम सामाजिक लाभ (ए) क्षेत्रीय असन्तुलन की समाप्ति (ऐ) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि (ओ) लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना।

निजी क्षेत्र (Private Sector)—निजी क्षेत्र का तात्पर्य निजी अथवा स्वतन्त्र साहस एवं संगठन से है। इस क्षेत्र के उद्योग सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त होते हैं। अर्थ व्यवस्था मे इस क्षेत्र से निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं:—(अ) पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के लाभ (आ) कार्य-कुशलता (इ) निजी साहस व उपक्रम को बढ़ावा (ई) अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा (उ) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा, आदि।

उक्त दोनों ही प्रकार के क्षेत्र हमारी नियोजन अर्थ-व्यवस्था के मूलाधार हैं। भारतीय अर्थ व्यवस्था में अभी कुछ समायोजन सम्बन्धी कार्य किया जाना है किन्तु दोनों ही क्षेत्रों को मिलजुलकर निरन्तर कठिन परिश्रम से कार्य करना होगा।

5. दीर्घकालीन नियोजन (Long term of Perspective Planning)—हमने चक्रीय नियोजन को अपनाया है जिसमें केवल कुछ वर्षों तक ही योजनाएं नहीं चलाई जाएंगी वरन् उसे समय तक यह कार्य किया जाएगा जब :तक हम आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था तक न पहुँच जाएं। वैसे तो हम पंचवर्षीय योजनाएं चला रहे हैं किन्तु

भारतीय नियोजन की विशेषताएं

1. प्रजातान्त्रिक नियोजन
2. नियोजन तन्त्र
3. समाजवादी समाज की रचना
4. निजी व सार्वजनिक क्षेत्र
5. दीर्घकालीन नियोजन
6. प्राथमिकताएं
7. भौतिक तथा वित्तीय नियोजन
8. ऊपर व नीचे से नियोजन

अब हमने सर्वांगीण नियोजन (*Perspective Planning*) का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है जो प्रमुख उद्योगों एवं अन्य क्षेत्रों के लिए दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित करता है और चालू योजना में इन लक्ष्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है।

प्राथमिकताएं (Priorities)—हमारे देश में चल रही पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिकताएं निर्धारित की जाती हैं। प्रथम योजना में कृषि एवं सिंचाई कार्यक्रमों, द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास तृतीय योजना में कृषि-औद्योगिक विकास तथा चतुर्थ योजना में अर्थ-व्यवस्था के स्वावलम्बन को प्राथमिकता दी गई है। ये प्राथमिकताएं देश की आवश्यकताओं एवं विकास की गति को ध्यान में रखकर निर्धारित की गई हैं।

7. भौतिक (Physical) तथा वित्तीय (Financial) नियोजन—भौतिक नियोजन वह नियोजन है जिसमें नियोजन के विभिन्न साधनों की स्थिति व उपलब्धि के प्रश्नों को प्रधानता दी जाती है। वित्तीय नियोजन वह है जिसमें योजना की आवश्यकताओं को मुद्राओं में आंका जाता है। समाजवादी नियोजन (Socialistic Planning) में भौतिक नियोजन तथा गैर समाजवादी देशों में वित्तीय नियोजन को प्रधानता रहती है। किन्तु भारत में हमने दोनों ही प्रकार के नियोजन को समान रूप से महत्ता दी है।

8. ऊपर तथा नीचे से नियोजन (Planning from above and Planning from below)—संगठित एवं अर्द्ध संगठित क्षेत्रों

को और अधिक विकसित करने के प्रयत्नों को ऊपर से लागू किए जाने वाला नियोजन कहते हैं। निर्धन एवं अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिये किए गये प्रयत्नों को नीचे से किया जाने वाला नियोजन कहते हैं। भारतवर्ष में दोनों ही क्षेत्रों के विकास के लिये नियोजन को अपनाया गया है।

इस प्रकार भारतीय नियोजन विश्व में एक नवीन प्रयोग है। समूचे विश्व के लोग इसकी ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। प्रजातान्त्रिक नियोजन का यह प्रयोग नियोजन के इतिहास में नये अध्याय के रूप में लिखा जायेगा।

सारांश

नियोजन का अर्थ—आर्थिक नियोजन राष्ट्र के उत्पादन साधनों के उचित उपयोग तथा राष्ट्रीय आय के उचित वितरण द्वारा कुछ आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की कार्य प्रणाली है।

नियोजन की अनिवार्यतायें—(1) आर्थिक संगठन की पद्धति (2) साधनों का तान्त्रिक समन्वय (3) योग्य एवं वैधानिक सत्ता (4) कुछ निश्चित उद्देश्य (5) प्राथमिकता के अनुसार साधनों का वितरण (6) निश्चित अवधि (7) साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग

नियोजन की अनिवार्यतायें—(1) निश्चित उद्देश्य (2) निश्चित शक्तिशाली अधिकारी (3) आँकड़ों का संकलन (4) पूंजी (5) तान्त्रिक समन्वय (6) कार्यक्रमों का निर्धारण (7) सरकारी एवं निजी क्षेत्र (8) योजना की विस्तृत संचालन तथा निरीक्षण (9) संचालन तथा निरीक्षण (10) जनता का सहयोग

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता—नियोजन को बढ़ावा देने व

भारतीय नियोजन की विशेषताएं

1. प्रजातान्त्रिक नियोजन
2. नियोजन तन्त्र
3. समाजवादी समाज की रचना
4. निजी व सार्वजनिक क्षेत्र
5. दीर्घकालीन नियोजन
6. प्राथमिकताएं
7. भौतिक तथा वित्तीय नियोजन
8. ऊपर व नीचे से नियोजन

अब हमने सर्वांगीण नियोजन (Perspective Planning) का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है जो प्रमुख उद्योगों एवं अन्य क्षेत्रों के लिए दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित करता है और चालू योजना में इन लक्ष्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है।

प्राथमिकताएं (Priorities)—हमारे देश में चल रही पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिकताएं निर्धारित की जाती हैं। प्रथम योजना में कृषि एवं सिंचाई कार्यक्रमों, द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास तृतीय योजना में कृषि-औद्योगिक विकास तथा चतुर्थ योजना में अर्थ-व्यवस्था के स्वावलम्बन को प्राथमिकता दी गई है। ये प्राथमिकताए देश की आवश्यकताओं एवं विकास की गति को ध्यान मे रखकर निर्धारित की गई हैं।

7. भौतिक (Physical) तथा वित्तीय (Financial) नियोजन—भौतिक नियोजन वह नियोजन है जिसमें नियोजन के विभिन्न साधनों की स्थिति व उपलब्धि के प्रश्नों को प्रधानता दी जाती है। वित्तीय नियोजन वह है जिसमें योजना की आवश्यकताओं को मुद्राओं में आंका जाता है। समाजवादी नियोजन (Socialistic Planning) में भौतिक नियोजन तथा गैर समाजवादी देशों में वित्तीय नियोजन को प्रधानता रहती है। किन्तु भारत में हमने दोनों ही प्रकार के नियोजन को समान रूप से महत्ता दी है।

8. ऊपर तथा नीचे से नियोजन (Planning from ... and Planning from below)—समष्टि एवं व्यष्टि ...

को और अधिक विकसित करने के प्रयत्नों को ऊपर से लागू किए जाने वाला नियोजन कहते हैं। निर्धन एवं अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिये किए गये प्रयत्नों को नीचे से किया जाने वाला नियोजन कहते हैं। भारतवर्ष में दोनों ही क्षेत्रों के विकास के लिये नियोजन को अपनाया गया है।

इस प्रकार भारतीय नियोजन विश्व में एक नवीन प्रयोग है। समूचे विश्व के लोग इसकी ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। प्रजातान्त्रिक नियोजन का यह प्रयोग नियोजन के इतिहास में नये अध्याय के रूप में लिखा जायेगा।

सारांश

नियोजन का अर्थ—आर्थिक नियोजन राष्ट्र के उत्पादन साधनों के उचित उपयोग तथा राष्ट्रीय आय के उचित वितरण द्वारा कुछ आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की कार्य प्रणाली है।

नियोजन की अनिवार्यतायें—(1) आर्थिक संगठन की पद्धति (2) साधनों का तांत्रिक समन्वय (3) योग्य एवं वैधानिक संस्था (4) कुछ निश्चित उद्देश्य (5) प्राथमिकता के अनुसार साधनों का वितरण (6) निश्चित अवधि (7) साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग

नियोजन की अनिवार्यतायें—(1) निश्चित उद्देश्य (2) निश्चित शक्तिशाली अधिकारी (3) आँकड़ों का संकलन (4) पूंजी (5) तांत्रिक समन्वय (6) कार्यक्रमों का निर्धारण (7) सरकारी एवं निजी क्षेत्र (8) योजना की विज्ञप्ति संचालन तथा निरीक्षण (9) संचालन तथा निरीक्षण (10) जनता का सहयोग

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता—नियोजन को बढ़ावा देने व

उसे आवश्यक बनाने वाली बातें—(1) पूंजीवाद के दोष (2) व्यापार चक्र (3) आर्थिक संकट (4) महायुद्ध (5) रूस की सफलता (6) अर्द्ध-विकसित देश (7) अर्थ-शास्त्रियों द्वारा मान्यता

नियोजन के लाभ—निर्धनता का शीघ्र निवारण (2) समानता की प्राप्ति (3) राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण एवं सही प्रयोग (4) बेरोजगारी की समस्या का हल (5) सामाजिक न्याय एवं सुरक्षा (6) नैतिक सुधार (7) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं प्रगति

नियोजन का संक्षिप्त इतिहास—नियोजन के क्रमिक विकास का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। 1910 में नार्वे के प्रोफेसर ने नियोजन की महत्ता पर प्रकाश डाला। 1928 में रूस ने प्रायोगिक स्वरूप प्रदान किया। द्वितीय महायुद्ध ने विश्व के अनेक राष्ट्रों को नियोजन अपनाने के लिये प्रेरित किया। वर्तमान में महत्व

भारत में आर्थिक नियोजन—

बम्बई योजना, जनता योजना, गांधी योजना, स्वतन्त्रता से पूर्व किये गये प्रयास हैं।

भारत में नियोजन की आवश्यकता—आर्थिक नियोजन की आवश्यकता के मुख्य कारण इस प्रकार से हैं—

(1) देश की दरिद्रता (2) विभाजन से उत्पन्न आर्थिक असंतुलन तथा अन्य समस्यायें (3) बेरोजगारी की समस्या (4) औद्योगीकरण की आवश्यकता (5) सामाजिक तथा आर्थिक विषमतायें—

भारतीय नियोजन की विशेषताएं—(1) प्रजातान्त्रिक नियोजन (2) नियोजन तन्त्र (3) समाजवादी समाज की रचना (4) निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों की विद्यमानता (5) दीर्घकालीन नियोजन (6) प्राथमिकतायें (7) भौतिक तथा वित्तीय नियोजन (8) ऊपर तथा नीचे से नियोजन

में प्रजातांत्रिक नियोजन विश्व में एक नवीन प्रयोग है।

प्रश्न

1. आर्थिक नियोजन से आप क्या समझते हैं ? भारत को इससे क्या लाभ हुए हैं ? (राज. बोर्ड, हा. से. 1966)
2. भारत में नियोजन की आवश्यकता क्यों हुई ? भारतीय नियोजन के संक्षिप्त इतिहास के सन्दर्भ में इसका उत्तर दीजिये ।
3. "कहा जाता है कि भारत में नियोजन विश्व में नवीन प्रयोग है ।" भारत के नियोजन की विशेषताओं के सन्दर्भ में इस कथन पर प्रकाश डालिये ।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
   (i) प्रजातान्त्रिक नियोजन
   (ii) समाजवादी समाज
   (iii) निजी व सार्वजनिक क्षेत्र
   (iv) भौतिक तथा वित्तीय नियोजन
   (v) आर्थिक नियोजन के लाभ

(राज. बोर्ड, हा. से., 1969)

अध्याय 19

भारत में आर्थिक नियोजन II

ECONOMIC PLANNING IN INDIA—II

"यह तो सही है कि हमें कुछ क्षेत्रों में अधिक सफलता नहीं मिली है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पंचवर्षीय योजनाओं ने ही हमें भारत के आर्थिक विकास का उचित आधार प्रदान किया है।"

—श्रीमती इन्दिरा गांधी

भारतवर्ष में नियोजन को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लेने के पश्चात् हमारी सरकार ने 'भारतीय योजना आयोग' (Indian Planning Commission) का गठन 15 मार्च सन् 1950 को स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में किया। इस आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूप रेखा जोलाई सन 1951 में प्रस्तुत की। प्रथम के बाद द्वितीय एवं तृतीय योजनाएँ हमारे देश में लागू की गईं। तृतीय योजना की समाप्ति के बाद अप्रैल सन् 1966 से 31 मार्च सन् 1969 तक तीन वार्षिक संगठनात्मक योजनाओं (Annual consolidation plans) के पश्चात् चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का विधिवत् प्रारम्भ होगा। इस अध्याय में हम भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में पढ़ेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

FIRST FIVE YEAR PLAN

(1 अप्रैल 1951 से 31 मार्च 1956)

...न के पश्चात् आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए प्रथम पंच... निर्माण किया गया।

इस योजना के दो प्रमुख उद्देश्य थे ।

1. युद्ध और विभाजन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न आर्थिक समस्याओं एवं असन्तुलन को दूर करना, तथा

2. देश में सन्तुलित आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार करना जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके ।

इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य (target) कृषि उत्पादन को बढ़ाना रखा गया ताकि खाद्यान्नों व कच्चे माल की कमी दूर हो सके ।

प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में 2,069 करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की जिसे बाद में बढ़ाकर 2,348 करोड़ रुपया कर दिया गया । किन्तु वास्तविक व्यय 1960 करोड़-

करने से हुआ। नीचे दी गई तालिका से विभिन्न मदों पर किये गये खर्च का पता लगता है—

मद	व्यय (करोड़ रुपयों में)	
	रकम	प्रतिशत
कृषि एवं सामुदायिक विकास	291	15
बड़ी एवं मध्यम सिंचाई योजनाएँ	310	16
शक्ति	260	13
ग्रामीण एवं लघु उद्योग	43	2
उद्योग एवं खनिज	74	4
यातायात एवं संदेश वाहन	523	27
समाज सेवाएँ तथा विविध	459	23
कुल व्यय	1,960	1,100

उक्त तालिका से पता चलता है कि प्रथम योजना में कृषि विकास पर ही अधिक बल दिया गया। उद्योगों के विकास के लिए भी कृषि विकास को आवश्यक समझा गया। यातायात और समाज सेवाओं पर भी अधिक राशि खर्च करने का लक्ष्य रखा गया—

प्रथम योजना के लिए व्यय की गई राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों (Sources) से हुआ—

	(करोड़ रुपये)
कर व रेलों से बचत	752
ऋण	205
अल्प बचत व अन्य ऋण	304
अन्य पूंजीगत आय	91
विदेशी साधन	188
घाटे की अर्थ-व्यवस्था	420
कुल	1,960

प्रथम योजना की सफलतायें (Achievements of the First Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना बहुत सफल रही। योजना आकार में बहुत बड़ी न होने के कारण इसके लक्ष्य आसानी से प्राप्त कर लिए गये। यहाँ हम कुछ मुख्य सफलताओं पर विचार करेंगे—

1. राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि (Increase in National and per Capita Income) प्रथम योजना काल के प्रारम्भ में राष्ट्रीय आय 10,240 करोड़ रुपए थी, जो योजना के अन्त मे बढ़कर 12,130 करोड़ रुपए हो गई। प्रति व्यक्ति आय 284 रुपए से बढ़कर 306 रुपए हो गई। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में 18·4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

2. कृषि विकास—योजनाकाल मे खेती बाड़ी से सम्बन्धित कार्यों का विकास हुआ। खाद्यान्नों का उत्पादन सन् 1949-50 की तुलना में योजना के अन्त तक 15 प्रतिशत बढ़ गया। व्यापारिक फसलों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बढ़ने से अतिरिक्त सिचाई की सुविधाओं का भी विस्तार हुआ। कृषकों को सहकारी आन्दोलन के अन्तर्गत 27 करोड़ रुपए के ऋण भी इस अवधि में दिए गए।

3. औद्योगिक प्रगति—कुछ औद्योगिक उत्पादन में इस अवधि में 39 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस्पात पिण्ड, मशीनी औजार, अल्यूमिनियम में अभूतपूर्व प्रगति हुई।

4. यातायात एवं समाज सेवाएं—योजना में सर्वाधिक व्यय इन्हीं मदों पर किया गया। इस अवधि में रेलों, सड़कों और जहाजी बेड़ों के विकास के अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवाओं का भी विस्तार हुआ। सामान्य शिक्षा के अलावा तकनीकी (technical) तथा व्यवसायिक (Professional) शिक्षा का विस्तार हुआ।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि हमारी प्रथम योजना ने आशातीत सफलता प्राप्त की। किन्तु कुछ कमियाँ (short falls) भी रह गईं जिन्हें जान लेना भी अनुचित न होगा—

1. यह योजना रोजगार (Employment) की दृष्टि से सफल नहीं रही। योजना के तीसरे वर्ष में तो बेरोजगारी ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

2. प्रथम योजना में विकास-व्यय निर्धारित राशि से बहुत कम हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि योजना को कार्यान्वित करने में कहीं त्रुटि रह गई थी।

3. इस योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर कम ध्यान दिया गया। साथ ही कृषि विकास मे भी भूमि-सुधार तथा सहकारिता आदि कार्यक्रम में अधिक प्रगति नहीं हुई।

4. प्रथम योजना को काफी सफलता के बाद भी जनता मे नियोजन भावना (Plan consciousness) का संचार नहीं हो पाया और यह केवल सरकारी कार्यक्रम बन कर रह गई।

इतना सब होते हुए भी निस्संदेह स्वीकार किया जाता है कि प्रथम योजना बहुत सफल रही। इस सफलता से प्रेरित होकर ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

SECOND FIVE YEAR PLAN

(अवधि—1 अप्रेल, 1956 से मार्च 1961)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के सफलतापूर्वक समाप्त होने पर द्वितीय योजना का शुभारम्भ हुआ। यह योजना प्रथम योजना की तुलना में बड़े आकार की थी। इस योजना के मुख्य लक्ष्य निम्नांकित थे—

1. योजनावधि में राष्ट्रीय आय में 25% वृद्धि की जाए ताकि देशवासियों का जीवन स्तर ऊँचा उठाया जा सके।

2. अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर खड़ा करने के लिए देश में तेजी से औद्योगीकरण (Rapid Industrialization) किया जाय तथा मूल उद्योगों का विकास किया जाय।

3. बेकार मनुष्य-शक्ति को खपाने के लिये रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जाय।

4. आय एवं धन की असमानता दूर करने हेतु समाजवादी ढांचे पर समाज की रचना की जाए।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में 4,800 करोड़ रुपए खर्च करने का लक्ष्य रखा गया। किन्तु थोड़े समय बाद ही वित्तीय संकट के कारण यह राशि घटाकर 4,500 करोड़ रुपये कर दी गई। योजना पर वास्तविक खर्च 4,600 करोड़ रुपया हुआ जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

मद	व्यय	
	राशि करोड़ रु. में	प्रतिशत
कृषि एवं सामुदायिक विकास	530	11
वृहत् एवं मध्य सिंचाई योजनाएं	420	9
शक्ति	445	10
ग्रामीण एवं लघु उद्योग	175	4
उद्योग एवं खनिज	900	20
यातायात और संदेशवाहन	1,300	28
समाज सेवाएं तथा विविध	8'0	18
कुल व्यय	4,600	100

उक्त तालिका देखने से स्पष्ट होता है कि प्रथम योजना की तुलना में द्वितीय योजना का आकार बड़ा होने के साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि द्वितीय योजना मुख्यतः औद्योगिक विकास की योजना है। यद्यपि कृषि-विकास की मदों पर खर्च की जाने वाली राशि द्वितीय योजना में अधिक है तथापि प्रथम योजना की तुलना में कृषि विकास पर व्यय की जाने वाली राशि का अनुपात कम है।

निजी क्षेत्र (Private Sector)

द्वितीय योजना काल में निजी क्षेत्र (Private Sector) में 2,400 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था थी। इस राशि का वितरण निम्नांकित प्रकार से किया गया—

	व्यय (करोड़ रुपये में)
संगठित उद्योग व खनिज	575
विद्युत व परिवहन (रेलों के अलावा)	105
निर्माण कार्य	1,000
कृषि, कुटीर एवं लघु उद्योग	300
अन्य	400
	2,380

इस योजना पर व्यय की गई राशि का प्रबन्ध निम्नांकित वित्तीय साधनों से हुआ—

मद	करोड़ रु० में	प्रतिशत
1. अतिरिक्त कर में से वर्तमान राजस्व खाते से घटा बाकी निकालने के बाद	1,052-50= 1,002	23-1=22
2. रेलों का अंशदान	150	3
3. ऋण	780	17
4. अल्प बचत व अन्य ऋण	570	12
5. अन्य पूंजीगत आय	60	2
6. घाटे की अर्थव्यवस्था	948	20
7. विदेशी सहायता	1090	24
कुल व्यय	4600	100

द्वितीय योजना की सफलतायें—यहाँ हम द्वितीय योजना की मुख्य सफलताओं पर विचार करेंगे—

1. राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि—योजना के प्रारम्भ में राष्ट्रीय आय 12,130 करोड़ रुपये थी यह बढ़कर सन् 1960-61 में 14,500 करोड़ रुपये हो गई। प्रति व्यक्ति आय भी 306 रुपये से बढ़कर 330 रुपये प्रतिवर्ष हो गई।

2. कृषि विकास—योजना काल में कृषि विकास सम्बन्धी कार्यों पर 950 करोड़ रुपये का व्यय हुआ। प्रथम योजना की तुलना में कृषि उपज में 14 प्रतिशत वृद्धि हुई। खाद्यान्नों के उत्पादन में भी एक करोड़ टन की वृद्धि हुई। नत्रजन उर्वरक (Nitrogenous Fertilizers) के प्रयोग में 120 प्रतिशत वृद्धि हुई। योजना काल में 1 करोड़ 38 लाख अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की व्यवस्था हुई। सहकारी आंदोलन के अन्तर्गत 150 करोड़ रुपया किसानों को उधार दिया गया। इन सबके अतिरिक्त भूमि सुधार नीति के अन्तर्गत मध्यस्थों अथवा जागीरदारों की समाप्ति, काश्तकारों को भूमि पर स्वामित्व देना, भूमि की सीमा निर्धारण (Ceiling), आर्थिक जोतों का निर्माण करना, चकबंदी को बढ़ावा देना, सहकारी कृषि को विकसित करना, आदि कार्यक्रम उल्लेखनीय हैं।

3. औद्योगिक विकास—योजना काल में बड़े उद्योगों तथा खनिज विकास पर 900 करोड़ तथा लघु उद्योगों पर 175 करोड़ रुपए खर्च हुए। इस योजना में उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। प्रथम योजना की तुलना में औद्योगिक उत्पादन 40 प्रतिशत से बढ़ा। इस अवधि में मूल (Basic) उद्योगों की प्रगति हुई। इस्पात के तीन नए कारखानों—भिलाई, रूरकेला तथा दुर्गापुर—सार्वजनिक क्षेत्र में विदेशों की सहायता से चालू किए गए। जूट, चीनी तथा वस्त्र के कारखानों में अभिनवीकरण को प्रोत्साहन दिया गया। रासायनिक उद्योग, मशीनी उपकरण, कागज, ट्रैक्टर, डी. डी. टी., मोटर साइकिलें, सिलाई मशीनें, पंखे, साइकिलें, रेडियो, स्कूटर आदि वस्तुओं के उत्पादन में अभूतपूर्व प्रगति हुई। उत्पादन के कई क्षेत्रों में हम स्वावलम्बन (Self Sufficiency) के निकट पहुँच गए। लघु

उद्योगों की उन्नति के लिए कई बोर्ड एवं संगठन स्थापित किए गए तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई।

4. यातायात—द्वितीय योजना काल में यातायात के विकास पर 1,300 करोड़ रुपया खर्च किया गया जो कुल व्यय का 28 प्रतिशत है। इस अवधि में रेल और सड़क मार्गों के नवीन निर्माण के अतिरिक्त पुराने मार्गों की मरम्मत की गई। जहाजरानी एवं वायु यातायात का भी विकास हुआ।

5 सामाजिक सेवायें—इस मद पर कुल व्यय का लगभग 18 प्रतिशत भाग खर्च किया गया। शिक्षा का बहुमुखी विकास हुआ। सन् 1955-56 की तुलना में योजना के अन्त तक विद्यार्थियों की संख्या में 78 लाख की वृद्धि हुई। तकनीकी शिक्षा के विकास पर विशेष बल दिया गया। वैज्ञानिक अनुसंधान की उन्नति के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशाला की स्थापना की गई। स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार के परिणामस्वरूप औसत आयु में भी वृद्धि हुई। औद्योगिक श्रमिकों व कम आय वाले समूहों के लिए बस्तियां बनाई गई। इनके अतिरिक्त नीचे वर्ग के लोगों के कल्याण और विस्थापितों को बसाने हेतु भी महत्वपूर्ण कार्य हुए।

6. रोजगार—योजना काल में 80 लाख अतिरिक्त रोजगार के अवसर प्रदान किये गए, जिसमें लगभग 65 लाख कृषि-क्षेत्र के बाहर थे। फिर भी इस सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ करना है।

इतनी सफलताएं होते हुए भी योजना में कई कमियां रह गईं—

1 इस योजना ने कृषि पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वैसे तो पहली योजना की तुलना में इस पर अधिक राशि खर्च करने की व्यवस्था की गई किन्तु औद्योगिक विकास के पहले कृषि का पूर्ण विकास आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखकर तीसरी पंचवर्षीय योजना के कृषि विकास पर भी उद्योगों के समान ही बल दिया गया।

2 मूल्य सम्बन्धी कठिनाई—योजना को पूरा करने के लिए की गई घाटे की अर्थ व्यवस्था (Deficit Financing) से देश में मुद्रा

कृषि विकास की योजना थी । द्वितीय योजना ने औद्यो
अधिक बल दिया और तीसरी योजना ने कृषि एवं उद्यो
सम्मिलित विकास पर बल दिया ।

1. तृतीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objects

तृतीय पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार करते स
उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया था—

1. तृतीय योजना काल में प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत से
आय में वृद्धि प्राप्त करना, जिससे विनियोग की स्थिति

2. खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्म-निर्भरता तथा
में वृद्धि प्राप्त करना जिससे उद्योगों तथा निर्यात की मा
पूरा किया जा सके ।

3. आगामी दस वर्षों में देश के औद्योगीकरण
ताएं देश में ही पूरी की जा सकें इसके लिए मूल उद्योगो
रासायनिक उद्योग, ईंधन तथा शक्ति के साधनों का वि

कुल विनियोग 10,400 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 6,309 + निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

कुल व्यय 11,600 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 7,500 + निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

उपरोक्त तालिका को देखने से पता लगता है कि द्वितीय योजना की तुलना में कृषि तथा सामुदायिक विकास तथा शक्ति पर व्यय का अनुपात बढ़ा है। सिचाई, लघु उद्योग तथा संगठित उद्योग व खनिज पर व्यय का अनुपात कम हुआ है। पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि में काफी वृद्धि हुई।

वित्तीय साधन*

तृतीय योजना के प्रास्तावित कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों से किये जाने की व्यवस्था थी—

साधन	राशि (करोड़ रु)	प्रतिशत
अतिरिक्त कर	1,710	23
राजस्व के चालू खाते से बचत	550	7
रेलों द्वारा अंशदान	100	1
सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त लाभ	450	6
सार्वजनिक ऋण	800	11
अल्प बचत एवं अन्य ऋण	865	12
अन्य पूंजीगत आय	275	3
घाटे की अर्थ व्यवस्था	550	7
विदेशी सहायता	2,200	30
कुल योग	7,500	100

* Third Five Year Plan-Final Draft.

कुल विनियोग 10,400 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 6,309+ निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

कुल व्यय 11,600 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 7,500+ निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

उपरोक्त तालिका को देखने से पता लगता है कि द्वितीय योजना की तुलना में कृषि तथा सामुदायिक विकास तथा शक्ति पर व्यय का अनुपात बढ़ा है। सिंचाई, लघु उद्योग तथा संगठित उद्योग व खनिज पर व्यय का अनुपात कम हुआ है। पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि में काफी वृद्धि हुई।

*वित्तीय साधन**

तृतीय योजना के प्रस्तावित कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों से किये जाने की व्यवस्था थी—

साधन	राशि(करोड़ रु)	प्रतिशत
अतिरिक्त कर	1,710	23
राजस्व के चालू खाते से बचत	550	7
रेलों द्वारा अंशदान	100	1
सार्वजनिक उद्यमों से प्राप्त आय	450	6
सार्वजनिक ऋण	800	11
अल्प बचत एवं अन्य ऋण	865	12
अन्य पूँजीगत आय	275	3
घाटे की अर्थ व्यवस्था	550	7
विदेशी सहायता	2,200	30
कुल योग	7,500	100

* *Third Five Year Plan-Final Draft.*

कुल विनियोग 10,400 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 6,309+ निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

कुल व्यय 11,600 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 7,500+निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

उपरोक्त तालिका को देखने से पता लगता है कि द्वितीय योजना की तुलना में कृषि तथा सामुदायिक विकास तथा शक्ति पर व्यय का अनुपात बढ़ा है। सिंचाई, लघु उद्योग तथा संगठित उद्योग व खनिज पर व्यय का अनुपात कम हुआ है। पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि में काफी वृद्धि हुई।

वित्तीय साधन*

तृतीय योजना के प्रास्तावित कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों से किये जाने की व्यवस्था थी—

साधन	राशि(करोड़ रु)	प्रतिशत
अतिरिक्त कर	1,710	23
राजस्व के चालू खाते से बचत	550	7
रेलों द्वारा अंशदान	100	1
सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय	450	6
सार्वजनिक ऋण	800	11
अल्प बचत एवं अन्य ऋण	865	12
अन्य पूंजीगत आय	275	3
घाटे की अर्थ व्यवस्था	550	7
विदेशी सहायता	2,200	30
कुल योग	7,500	100

* Third Five Year Plan-Final Draft.

कुल विनियोग 10,400 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 6,309+निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

कुल व्यय 11,600 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 7,500+निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

उपरोक्त तालिका को देखने से पता लगता है कि द्वितीय योजना की तुलना में कृषि तथा सामुदायिक विकास तथा शक्ति पर व्यय का अनुपात बढ़ा है। सिंचाई, लघु उद्योग तथा संगठित उद्योग व खनिज पर व्यय का अनुपात कम हुआ है। पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि में काफी वृद्धि हुई।

वित्तीय साधन*

तृतीय योजना के प्रस्तावित कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों से किये जाने की व्यवस्था थी—

साधन	राशि(करोड़ रु)	प्रतिशत
अतिरिक्त कर	1,710	23
राजस्व के चालू खाते से बचत	550	7
रेलों द्वारा अंशदान	100	1
सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय	450	6
सार्वजनिक ऋण	800	11
अल्प बचत एवं अन्य ऋण	865	12
अन्य पूंजीगत प्राप्ति	275	3
घाटे की अर्थ व्यवस्था	550	7
विदेशी सहायता	2,200	30
कुल योग	7,500	100

* Third Five Year Plan-Final Draft.

सार्वजनिक क्षेत्र पर होने वाले खर्च में से 6,03
केन्द्रीय सरकार द्वारा और शेष राशि राज्य सरकारों
की जानी थी।

4. तृतीय योजना के विभिन्न कार्यक्रम

यहाँ हम विकास व उत्पादन के विभिन्न कार्यक्र
करेंगे—

1. कृषि—कृषि, सिंचाई और सामुदायिक विकास
करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई, जबकि द्वितीय यो
पर केवल 950 करोड़ रुपये खर्च हुए थे। योजना
का उत्पादन 30 प्रतिशत से बढ़ाने का लक्ष्य था। उ
लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सिंचाई का विकास किया जाना
जो योजना के प्रारम्भ में 282 लाख हैक्टर (700
बढ़कर 362 लाख हैक्टर (900 लाख एकड़) हो जा
थी। 88.5 लाख हैक्टर (220 लाख एकड़) भूमि

कुल विनियोग 10,400 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 6,309+ निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

कुल व्यय 11,600 करोड़ रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र 7,500+निजी क्षेत्र 4,100 करोड़ रुपये)

उपरोक्त तालिका को देखने से पता लगता है कि द्वितीय योजना की तुलना में कृषि तथा सामुदायिक विकास तथा शक्ति पर व्यय का अनुपात बढ़ा है। सिंचाई, लघु उद्योग तथा संगठित उद्योग व खनिज पर व्यय का अनुपात कम हुआ है। पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि में काफी वृद्धि हुई।

वित्तीय साधन*

तृतीय योजना के प्रास्तावित कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि का प्रबन्ध निम्नांकित स्रोतों से किये जाने की व्यवस्था थी—

साधन	राशि(करोड़ रु)	प्रतिशत
अतिरिक्त कर	1,710	23
राजस्व के चालू खाते से बचत	550	7
रेलों द्वारा अंशदान	100	1
सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय	450	6
सार्वजनिक ऋण	800	11
अल्प बचत एवं अन्य ऋण	865	12
अन्य पूंजीगत आय	275	3
घाटे की अर्थ व्यवस्था	550	7
विदेशी सहायता	2,200	30
कुल योग	7,500	100

* Third Five Year Plan-Final Draft.

सार्वजनिक क्षेत्र पर होने वाले खर्च में से 6,038
केन्द्रीय सरकार द्वारा और शेष राशि राज्य सरकारों
की जानी थी।

4. तृतीय योजना के विभिन्न कार्यक्रम

यहाँ हम विकास व उत्पादन के विभिन्न कार्यक्रमो
करेंगे—

1. कृषि—कृषि, सिंचाई और सामुदायिक विकास
करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई, जबकि द्वितीय योज
पर केवल 950 करोड़ रुपये खर्च हुए थे। योजना का
का उत्पादन 30 प्रतिशत से बढ़ाने का लक्ष्य था। उत्प
लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सिंचाई का विकास किया जाना था
जो योजना के प्रारम्भ मे 282 लाख हैक्टर (700 ला
बढ़कर 362 लाख हैक्टर (900 लाख एकड) हो जाने
थी। 88.5 लाख हैक्टर (220 लाख एकड) भूमि प
(Dry Farming)

करना था जो अर्थ-व्यवस्था को स्वावलम्बन की ओर ले जाते हों, जैसे—लोहे और इस्पात, मशीन औजार तथा उत्पादक उद्योग। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन का विकास निजी क्षेत्र द्वारा सम्पन्न होने का लक्ष्य था। इन सब के परिणामस्वरूप औद्योगिक उत्पादन 70 प्रतिशत तक बढ़ने की सम्भावना थी। सार्वजनिक क्षेत्र में एक इस्पात का कारखाना बोकारो स्टील प्लांट, रूस की सहायता से खोले जाने की व्यवस्था थी। योजना काल में धातु-उद्योग, औद्योगिक मशीनरी अल्यूमिनियम, स्टेनलेस स्टील, तांबा, जस्ता, सीमेंट, दवाइयां, रंगने का समान, कपड़ा, कागज, चीनी, तेल, घड़ियां, साइकिलें, रेडियो, कपड़ा, सिलाई मशीनों आदि के उत्पादन के अधिक लक्ष्य निर्धारित किये गये।

3. ग्रामीण एवं लघु उद्योग—योजना के अन्तर्गत 264 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई। इन उद्योगों को विकसित करने से रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि होने का अनुमान था। लघु उद्योगों को ऋण देने के अतिरिक्त सरकारी गारंटी देने की व्यवस्था भी की गई। हाथ करघा, शक्ति करघा, रेशम व खादी के कपड़े में उत्पादन वृद्धि के लक्ष्य रखे गये। इन उद्योगों में विद्युत तथा छोटे यन्त्र प्रयोग में लाने से उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयत्न किये गये।

4. यातायात—देश में औद्योगिक विकास के लिए यातायात की महत्ता भली-भांति समझ ली गई है। इसीलिए प्रत्येक योजना में इसे सर्वाधिक महत्व दिया गया है। तीसरी योजना में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यातायात का विकास करने हेतु 1,486 करोड़ रुपए खर्च किये जाने की व्यवस्था थी। योजना काल में 1,930 कि. मी. (1,200 मील) नई रेल्वे लाइन बिछाने, 40,300 कि मी. (23,000 मील) सतह वाली (surfaced) सड़कें बनाने, जहाजी-भार क्षमता तथा बन्दरगाहों की क्षमता में वृद्धि किये जाने का लक्ष्य था। पोस्ट आफिस तथा तारघरों की संख्या में वृद्धि की गई।

5. सामाजिक सेवाएं—तृतीय योजना में सामाजिक सेवाओं के

विस्तार के लिए, 13,00 करोड़ रुपए व्यय करने की व्यवस्था की गई। वैज्ञानिक अनुसंधान, तकनीकी शिक्षा और प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया गया, 11 से 16 वर्ष के बच्चो को नि शुल्क व अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था योजना की विशेषता हैं। स्कूल जाने वाले छात्रों की संख्या इस अवधि में 204 लाख (अर्थात् 435 लाख से बढ़कर 639 लाख) बढ़ जाने का अनुमान है।

: स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं परिवार नियोजन (Family planning) कार्यक्रमों का विस्तार किया गया। ग्रामीण जल प्रदाय तथा निर्माण योजनाओं के अतिरिक्त आवास (Housing) सुविधाओं का विस्तार भी किया गया। समाज कल्याण कार्यक्रमो के अन्तर्गत बाल-कल्याण, महिला कल्याण, समाज सुरक्षा, विस्थापितो को बसाने, आदि कार्यक्रम भी रखे गये।

6. राष्ट्रीय आय (National Income)—यह आशा की गई कि योजना में लक्षित सभी कार्यक्रम पूरे हो जाने पर राष्ट्रीय आय में लगभग 30 प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। सन् 1960-61 में जो राष्ट्रीय आय 14,500 करोड़ रु० थी वह सन् 1965-66 में बढ़कर 19,000 करोड़ रु० हो जाने की आशा थी। प्रति व्यक्ति आय 300 रुपये से बढ़कर 385 रुपये हो जाने की संभावना थी।

7. रोजगार (Employment)—अनुमान है कि तृतीय योजना काल में 145 लाख लोगों को रोजगार के अवसर प्रदान किए गए। इस अवधि में जनसंख्या की वृद्धि लगभग 170 लाख होने का अनुमान था। इसलिए अब रोजगार के अधिक अवसर ढूँढने चाहिये। इस संबध में स्थानीय संगठनों द्वारा जन सहयोग के आधार पर कार्यक्रम बनाए जाने चाहिये।

तृतीय योजना का मूल्यांकन—

तृतीय योजना काल में हमें आशातीत सफलता नहीं मिली। मौसम की प्रतिकूलता, शक्ति के साधनों-विशेषतः कोयले और जलविद्युत की

4. रोजगार—योजना के प्रारम्भ में बेरोजगारों की सख्या 70 लाख थी। योजना की अवधि में 145 लाख लोगों को रोजगार दिया गया किन्तु इसी दौरान 170 लाख नए व्यक्ति श्रमशक्ति में सम्मिलित हो गए। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्त में लगभग 95 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे।

5. कृषि—योजना के अधिकांश वर्षों में प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण कृषि उत्पादन के सम्पूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करना सम्भव नहीं हुआ। योजना के अन्तिम वर्ष में खाद्यान्नों का उत्पादन 72·29 मिलियन टन हुआ। इस योजना मे कृषि, सामुदायिक विकास एव सहकारिता के विकास पर 1,104 करोड़ रुपये खर्च किए गये।

6. उद्योग—योजना की अवधि में मूल औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से भी अधिक बढ़ा। आर्थिक एवं सुरक्षा संकटों के कारण औद्योगिक विकास के सम्पूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं हुई। जिन परियोजनाओं का कार्य अधूरा रह गया था वे अब शीघ्र ही पूरी हो जाएंगी। योजना काल में सगठित उद्योगो, खनिज विकास कार्यक्रमों, कुटीर एवं लघु उद्योगों पर 1,959 करोड़ रुपया खर्च हुआ जो प्रस्तावित व्यय से लगभग 175 करोड़ रुपया अधिक है।

7. सिंचाई एवं शक्ति—योजनाकाल की बड़ी एव मध्यम सिंचाई योजनाओं से सिंचित क्षेत्र 5·5 मिलियन एकड़ से बढ़कर 13·1 मिलियन एकड़ हो गया। लगभग 28,100 गांवों की और बिजली दी गई। योजना काल मे जल विद्युत निर्माण की क्षमता 4·6 मिलियन किलोवाट से बढ़ गई। सिंचाई एव शक्ति के विकास पर 1,920 करोड़ रुपये खर्च हुए।

8. यातायात एवं समाज सेवाएं—तीसरी योजना में इन पर 3,645 करोड़ रुपया खर्च हुआ जो प्रस्तावित व्यय से 859 करोड़ रुपया अधिक है। स्कूलों की संख्या 4 लाख से बढ़कर 5 लाख हो गई। परिवार नियोजन केन्द्र 1,649 से बढ़कर 11,474 हो गये।

सतहदार सड़कों की लम्बाई 255 हजार किमी मीटर से बढ़कर 284 हजार किलोमीटर हो गई।

इन तथ्यों को देखने से पता चलता है कि तृतीय योजना में निर्धारित सभी लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त इस योजना की मुख्य असफलता मुद्रा प्रसार अथवा मूल्य वृद्धि है। बेरोजगारी की समस्या का विकराल रूप, राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि न होना, कर भार में वृद्धि आदि कुछ अन्य बातें हैं जो योजना की कमियों में गिनी जाती हैं।

यद्यपि तृतीय योजना के परिणाम अधिक आशाप्रद नहीं रहे फिर भी देश चतुर्थ योजना में अधिक तेजी से विकास के लिए कटिबद्ध है। आर्थिक विकास के लिए थोड़ा कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। फिर आर्थिक विकास तो राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए आवश्यक है, इसके लिए हमें त्याग और कष्ट उठाने को तत्पर रहना चाहिए।

भारत की वार्षिक योजनाएं (Annual Plans in India)

योजना लगातार चलने वाली प्रक्रिया होती है। योजनाओं का वास्तविक महत्व उसी अवस्था में पूर्णरूप से कार्यशील होता है जबकि दीर्घकालीन दृष्टिकोण के सन्दर्भ में क्रमशः अल्पकालीन योजनाएं बनती रहें। कभी-कभी बदलती हुई राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण योजना को बनाए रखना कठिन हो जाता है तब कुछ समय के लिए दीर्घकालीन दृष्टिकोण के स्थान पर अल्पकालीन दृष्टिकोण से ही कार्य करना होता है। भारत में भी चतुर्थ योजना के स्थान पर वार्षिक संगठनात्मक योजनाएं बनाने का यही उद्देश्य है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1 अप्रेल सन् 1961 से 31 मार्च सन् 1966) को अनेक विषम परिस्थितियों के मध्य गुजरना पड़ा। दो-दो युद्ध और सूखों (Draughts) को पार करने में इस योजना की शक्ति लक्ष्यों की प्राप्ति की अपेक्षा इससे निपटने में अधिक लगी।

तृतीय योजना की असफलता ने हमारी सहायता करने वाले देशों के दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। आज कोई भी अर्द्ध विकसित राष्ट्र बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सहायता के विकास नहीं कर सकता। भारत भी इस बदली हुई परिस्थितियों में अपनी चतुर्थ योजना को प्रभावशाली ढंग से लागू करने मे कठिनाई महसूस कर रहा था। इसीलिए परिस्थितियों के अनुकूल बनाने तक वार्षिक संगठनात्मक योजनाएँ बनाई गईं। यहाँ हम दो वार्षिक संगठनात्मक योजनाओं का अध्ययन करेंगे।

वार्षिक योजना सन् 1966 67

वार्षिक योजना (सन् 1966-67) के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए 2,221 करोड़ रुपए व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। इस वार्षिक योजना के महत्वपूर्ण लक्ष्य (Targets) इस प्रकार हैं—

विद्युत—सन् 1966-67 के मध्य यह लक्ष्य रखा गया था कि इस वर्ष मे विद्युत उत्पादन क्षमता में 2 मिलियन किलोवाट की वृद्धि होगी किन्तु वास्तविक वृद्धि 1 2 मिलियन किलोवाट से ही हुई।

कृषि—सन 1949-50 को आधार वर्ष मान कर जो कृषि उपज निर्देशांक इस वार्षिक योजना मे बनाया गया वह 135·7 के बराबर रहा, उपज में 4 अंकों की वृद्धि हुई।

उद्योग—देश मे औद्योगिक उत्पादन मे विगत कुछ वर्षों से गिरावट आ रही थी। जहाँ सन् 1963-64 में औद्योगिक उत्पादन 8·5 प्रतिशत की दर से बढ़ा वहाँ औद्योगिक उत्पादन में सन् 1964-65 में 7 प्रतिशत व सन् 1965 66 में 3·9 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। इसी के अनुरूप सन् 1966-67 मे (इस वार्षिक योजना मे) औद्योगिक उत्पादन वृद्धि की दर तीन प्रतिशत रही। इस गिरावट का मुख्य कारण कृषि उपज में गिरावट था।

यातायात—भारत में रेलों की भारवहन क्षमता का अनुमान तीसरी योजना के अन्त में 230 मिलियन टन लगाया गया था।

सन् 1966-67 के लिए जहाँ भारवहन क्षमता 216 मिलियन टन बढ़ने का अनुमान था वहाँ वास्तविक वृद्धि 203 मिलियन टन से हुई

राष्ट्रीय आय—सन् 1966-67 में राष्ट्रीय आय का अनुमा (वर्तमान मूल्य स्तर पर) 22,900 करोड़ रुपए लगाया गया था सन् 1965-66 में यह राशि 20,250 करोड़ रुपए थी। सन् 1966 67 में अत्यधिक मूल्य वृद्धि के कारण ही थोक मूल्य निर्देशां (Wholesale Price Index) 165·1 से बढ़कर 191 हो गया।

वार्षिक योजना सन् 1967-68 Annual Plan (1967-68)—

प्रस्तावित चतुर्थ योजना के द्वितीय वर्ष (सन् 1967-68) की वार्षिक योजना के लिए कुल 2,246 करोड़ रुपए की राशि व्यय के लिए निर्धारित की गई। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जाने वाली राशि का आवंटन इस प्रकार किया गया—

मद	व्यय (करोड़ रु० में)
कृषि	296·65
सिंचाई	46·77
सामुदायिक विकास व सहकारिता	79 85
शक्ति	384·78
संगठित उद्योग	520·19
लघु व ग्रामीण उद्योग	43·55
यातायात व संचार	418·75
शिक्षा	111 66
स्वास्थ्य व परिवार नियोजन	75·84
जलपूर्ति	39·96
(अन्य अनुसंधान व लोक कल्याण सहित)	228·00
योग	22,46·00

उपरोक्त तालिका में वर्णित मदों में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस वार्षिक योजना में मध्यम व वृहद् सिंचाई शक्ति, उद्योग व यातायात पर जो व्यय की राशियाँ रखी गई हैं वे क्रमशः निर्धारित योजना के अनुरूप ही हैं।

इस वार्षिक योजना के वित्तीय प्रबन्ध की स्थिति निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जावेगी।

मद	करोड़ रुपये
चालू राजस्व खाते से बचत	212
रेलों द्वारा अंशदान	−29
सार्वजनिक उद्योगों से अतिरिक्त आय	239
अतिरिक्त कर	360
जन ऋण	204
अल्प बचत	136
स्वर्ण बाण्ड	−3
वार्षिक जमाएं	22
प्रावीडेंट ऋण	86
विविध पूंजी प्राप्ति	−50
घाटे की व्यवस्था (केन्द्र में)	−1
घाटे की व्यवस्था (राज्यों में)	15
बाह्य ऋण (P. L. 480 सहित)	1001
कुल योग	2,192

इस प्रकार से कुल अनुमानित प्राप्तियों एवं व्यय में 54 करोड़ रुपए का अन्तर रहा (2,246-2, 192=54)।

तीन पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत की आर्थिक प्रगति की समीक्षा

(A REVIEW OF THE ECONOMIC PROGRESS INDIA UNDER THE THREE FIVE YEAR PLAN

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक विकास के लिए पंच योजनाएं बनाई गई। देश में विभाजन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न र्णार्थियों के पुनर्वास (Rehabilitation) से लेकर चीन और पाकिस -से सशस्त्र संघर्ष तक अनेक समस्याओं का हमने सामना किया। देश आर्थिक प्रगति का रथ (Chariot) निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा

यहां हम प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में विभिन्न क्षेत्र हुई आर्थिक प्रगति का अध्ययन करेंगे—
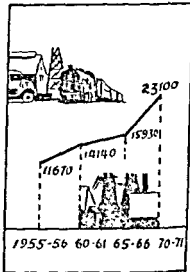
राष्ट्रीय आय में वृद्धि

1. राष्ट्रीय आय (National Income)

सन् 1950-51 से 1964-65 तक राष्ट्रीय आ में 69 प्रतिशत से वृद्धि हु इस सम्पूर्ण अवधि में औ वृद्धि लगभग 3.8 प्रतिश प्रतिवर्ष से हुई। प्रथ योजना के प्रारम्भ में ज राष्ट्रीय आय 9,850 करो रुपये थी वह सन् 1964-65 में बढ़कर 16,63 करोड़ रुपये (सन् 1960-61 के मूल्य स्तर) हो गई प्रति व्यक्ति आय में, केवल 1·8 प्रतिशत प्रतिवर्ष

वृद्धि हुई क्योंकि इस अवधि में लगभग 2·5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से जनसंख्या में वृद्धि हुई। सन् 1965-66 में प्रति व्यक्ति आय 325 रुपये थी।

2. कृषि—योजना के प्रथम चौदह वर्षों में कृषि उत्पादन में लगभग 65 प्रतिशत वृद्धि हुई। खाद्यान्नों, तिलहनों, गन्ने, कपास, जूट आदि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। सन् 1950-51 में जहाँ प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों का उत्पादन 12·8 औंस होता था वह सन् 1964-65 में बढ़कर 15·4 औंस हो गया। योजनाकाल में प्रति व्यक्ति उपलब्ध केलोरी 1,759 से बढ़कर 2,145 हो गई। कपड़े का उत्पादन 11 मीटर प्रति व्यक्ति से बढ़कर 15 मीटर प्रति व्यक्ति हो गया। प्रथम तीन योजनाओं में छोटी, मध्यम एवं बड़ी सिंचाई योजनाओं से 4.54 करोड़ एकड़ भूमि पर अतिरिक्त सिंचाई होने लगी।

3. उद्योग शक्ति व यातायात—इन योजनाओं से उद्योग, शक्ति एवं यातायात के क्षेत्रों में काफी प्रगति हुई। उद्योगों के उत्पादन में लगभग 152 प्रतिशत वृद्धि हुई। उद्योगों में विनियोग की राशि में भारी वृद्धि हुई सन् 1950-51 में जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग में 55 करोड़ तथा निजी क्षेत्र में 233 करोड़ की पूंजी लगी हुई थी वहाँ तृतीय योजना के अन्त में यह राशि क्रमशः—520 करोड़ तथा 1,050 करोड़ रुपये हो गई।

विद्युत-शक्ति में चार गुनी वृद्धि हुई। सन् 1950-51 में जहाँ विद्युत निर्माण की प्रतिस्थापित क्षमता 23 लाख किलोवाट थी वह सन् 1965-66 में बढ़कर 102 लाख किलोवाट हो गई। बिजली वाले गाँवों की संख्या 3,700 से बढ़कर 52,300 हो गई।

सतहदार सड़कों की लम्बाई 1,56,000 कि॰ मी॰ से बढ़ कर 2,84,000 कि॰ मी॰ हो गई। रेलों की मालवहन क्षमता दुगुनी से भी अधिक हो गई।
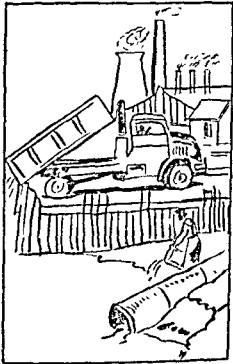
उद्योग

यातायात उद्योग

4. समाज सेवाएं (Social Service)—पिछले पन्द्रह वर्षों में समाज सेवाओं के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत प्रगति हुई है। स्कूलों की संख्या 2·31 लाख से बढ़कर 5·05 लाख हो गई है। प्रशिक्षण, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, एवं परिवार नियोजन पिछड़े वर्गों का विकास, औद्योगिक श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था आदि सुविधाओं का कई गुना विस्तार हुआ है। मलेरिया रोग का सम्पूर्ण निराकरण हो गया है। औसत आयु 32 से बढ़कर 50 वर्ष हो गई है।

उपरोक्त उपलब्धियों से हमारे आर्थिक विकास के प्रयत्नों की जानकारी मिलती है।

कमियां—

हमारे देश में तीन पंचवर्षीय योजनाओं की कतिपय उपलब्धियों (achievements) की जानकारी उपरोक्त तथ्यों से मिलती है। किन्तु आज भी जनसाधारण योजनाओं के प्रति अधिक उत्साह का प्रदर्शन नहीं करता। योजनाओं में अनेक कमियां रही हैं जिनका विस्तृत वर्णन (कारणों सहित) प्रत्येक योजना के साथ पिछले पृष्ठों में किया गया है। यदि विभिन्न योजनाओं की कमियों को संकलित किया जाय तो निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं—

1. मूल्य स्तर में वृद्धि हो रही है।
2. जनता पर कर भार में वृद्धि हो रही है।
3. बेरोजगारी में वृद्धि होती जा रही है।
4 योजनाओं की निर्धारित प्राथमिकताएं (Priorities) देश की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है।
5 सरकार की नीति, योजना निर्माण, योजना का क्रियान्वयन एवं उद्देश्यों में समानता नहीं है।
6 समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव नहीं है।
7. कृषि, उद्योग, राष्ट्रीय आय आदि के लक्ष्यों की प्राप्ति में कमी रही है।
8 निजी क्षेत्र की उपेक्षा की गई।
9. विकास व्यय (Development Expenditure) का सही अनुमान नहीं लगाया गया। प्रथम योजना में निर्धारित राशि से कम तथा दूसरी व तीसरी योजनाओं में अधिक व्यय हुआ है।

1. वित्तीय साधनों (Financial Resources) सम्बन्धी कठिनाइयाँ रही हैं।
2. विदेशी विनिमय का संकट बना रहा है।
3. आवश्यक तकनीकी (Technical) ज्ञान एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव रहा है।
4. सार्वजनिक क्षेत्र में कुशलता का अभाव रहा है।
5. उचित प्रशासनिक व्यवस्था की कमी रही है।
6. जनसहयोग (Public-co-operation) की कमी योजनाओं की सबसे बड़ी असफलता रही है।
7. योजनाओं से प्राप्त सफलताओं एवं विफलताओं का मूल्यांकन करने के लिए उचित व्यवस्था का अभाव रहा है।
8. देश में दृढ़ विश्वास की भावना एवं गति से सम्बन्ध की कमी भी नियोजन की असफलता के लिए उत्तरदायी है।

भारत में आर्थिक नियोजन की सफलता के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को सरकार की नीति में परिवर्तन लाकर दूर किया जा सकता है।

योजनाओं की सफलता के लिए सुझाव (Suggestions)—

योजना की सिद्धि पर देश की समृद्धि निर्भर करती है। इसलिये हमें हर सम्भव प्रयत्न करने चाहिये। निम्नांकित सुझाव इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं—

(अ) वित्तीय साधनों संबंधी—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्र में निर्धनता, बचत की कमी एवं कम विनियोग का कुचक्र व्याप्त है। यही कारण है हमारी योजनाओं के लिए उचित साधनों का अभाव रहता है।

1. आन्तरिक साधन (Internal Resources)—उत्पादन वृद्धि एवं कल्याणकारी कार्यों के लिए बढ़ते हुए विनियोग की आवश्यकता होती है। आंतरिक वित्तीय साधन मुख्यतः घरेलू बचत (Domestic Sevings) तथा वित्तीय नीति (Fisical Policy) पर निर्भर करते हैं।

सुझाव—
(अ) वित्तीय साधनों का विस्तार—
1. आंतरिक साधन विशेषतः बचत
2. वाह्य साधन
(ब) प्रशासन सम्बन्धी—
1. नीति व उद्देश्यों में समानता
2. कुशल प्रशासन व्यवस्था तथा उचित क्रियान्वयन
3. ईमानदार कर्मचारी
4. मूल्यांकन
(स) जनसहयोग—
1. योजना भावना का प्रसार
2. मूल आवश्यकताओं की तृप्ति
3. कार्य परियोजनाएं
(द) अन्य—
1. मूल्य नीति, तकनीकी साधन व सहयोग आदि।

हमारे यहाँ सन् 1950-51 में घरेलू बचत का प्रतिशत कुल राष्ट्रीय आय का 5½ प्रतिशत था। यह प्रतिशत सन् 1965-66 में बढ़कर 10½ प्रतिशत हो गया। किन्तु इस अवधि में विनियोग किये जाने वाली राशि तीन गुनी हो गई। इस प्रकार विनियोग की तुलना में बचत की वृद्धि का अनुपात कम रहा।

देश में 'बचत' का बहुत बड़ा महत्व है। एक ओर जहाँ इससे देश के आर्थिक विकास के लिए रुपया मिलता है वहां दूसरी ओर यह जनता की क्रयशक्ति (Purchasing Power) में कमी लाकर मुद्रा प्रसार या मूल्य वृद्धि को रोकती है।

आंतरिक साधनों के रूप में सार्वजनिक उद्योगों से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस लिए हमें अधिक से अधिक आंतरिक बचतों को ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में बढ़ाना चाहिये तथा सार्वजनिक उद्योगों में कुशलता को बढ़ाकर योजनाओं के लिए अतिरिक्त साधन प्राप्त करने चाहिये।

2. बाह्य साधन (External Resources)—किसी भी देश के आर्थिक विकास मे विदेशी सहायता का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारत ने भी विदेशो से अपनी पचवर्षीय योजनाओ के लिए बहुत सहायता प्राप्त की है। किन्तु आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic nationalism) के जन्म तथा गुट बन्दियो के कारण बहुत लम्बे समय तक भारतवर्ष बिना शर्त के विदेशी सहायता प्राप्त कर सकेगा इसमे सदेह है। इसलिए हमे विदेशी मुद्रा कमाने के लिए निर्यात प्रोत्साहन (Export promotion) की ओर ध्यान देना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए कुछ कदम उठाये हैं किन्तु उनसे अधिक लाभ नही मिला है। इसलिए सरकार इस सम्बन्ध में फिर से प्रयत्न करे और हमारी योजनाओं की आवश्यकताओं तथा ऋण चुकाने के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा जुटावे। इस सम्बन्ध मे आयात नियन्त्रण नीति एवं विदेशी साधनों का मितव्ययतापूर्ण उपयोग भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

(ब) योजना के क्रियान्वयन एव प्रशासन से सम्बन्धित—पिछले वर्षों मे इस क्षेत्र मे जो कमियाँ अनुभव की गई हैं उनके निराकरण हेतु निम्नांकित उपाय किये जाने चाहिए।

1. नीति व उद्देश्यों में समानता—सरकारी नीति व योजना के उद्देश्यों मे समानता लाने की दिशा मे आवश्यक प्रयत्न किये जाने चाहिए। उदाहरणार्थ समाजवादी समाज की स्थापना का आदर्श प्राप्त करने के लिए योजनाओं में आर्थिक व सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए योजनाओ मे आर्थिक व सामाजिक विषमताओं को दूर करने के निश्चित उद्देश्यों का उल्लेख किया जाना चाहिये।

2. योजना के क्रियान्वयन की उचित व्यवस्था के बिना कोई भी योजना चाहे कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, सफल नही हो सकती। प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशो के अनुसार योजना आयोग का पुनर्गठन तो हो चुका है किन्तु केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के स्तर पर योजना को कार्यान्वित करने के लिए उचित व्यवस्था का अभाव है। प्रत्येक राज्य मे समन्वय समितियों (Co-ordination

Commitees) की स्थापना भी की जानी चाहिए। जिला व खण्ड (District and Block) स्तर पर भी व्यवस्था में प्रभावशाली परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

3. ईमानदार कर्मचारी—हमारी योजनाएँ बहुत अच्छे एवम् ऊँचे आदर्शों को लेकर बनायी जाती हैं किन्तु कर्मचारियों के आचरण एवं कार्यप्रणाली से उनका पूरा लाभ नहीं मिल पाता। सच्चरित्र व कार्यप्रिय कर्मचारियों के बिना योजनाएँ मूलतः कागजी योजनाएं बनकर रह जाती है। राष्ट्रीय चारित्रिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि भ्रष्ट एवं बेईमान कर्मचारियों को दण्डित किया जाय। योजनाओं को क्रियान्वित करने में जो बाधाएँ उत्पन्न करें उनको उचित मार्ग बताने हेतु आवश्यक आचार संहिता (Code of conduct) का निर्माण किया जावे। कर्मचारियों का उचित व्यवहार ही जन साधारण को योजना के प्रति आकर्षित कर सकेगा।

4. मूल्यांकन की उचित पद्धति के बिना योजनाओं की उपलब्धियों एवं असफलताओं की सही जानकारी हासिल नहीं की जा सकती। हमारे योजना आयोग ने पिछले वर्षों में कुछ अध्ययन दलों (Study groups) की स्थापना की है जो विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियों आदि की जानकारी प्राप्त करते हैं।

(स) जनसहयोग (Public Co-operation)—हमारी योजनाओं का मुख्य आधार जन सहयोग है। किन्तु अभी तक जन साधारण इनके प्रति उदासीन है। अधिकाधिक जनसहयोग प्राप्त करने के लिए निम्नांकित उपाय काम में लाये जाने चाहिए—

1. योजना भावना (Plan consciousness) का प्रसार मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्र में किया जाना चाहिए। ग्रामीण जनता को सरल दृश्य एवं श्रव्य (Audio-visual) साधनों का प्रयोग कर योजनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी दी जानी चाहिए। इस क्षेत्र के

महाविद्यालयों के योजना मंच (Planning Forms) अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं।

2. ग्रामीण जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न किये जाने चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में पीने के पानी की सुविधाएँ, आवास सुविधाएँ एवं सिंचाई एवं कृषि विकास की सुविधाएँ जुटा कर निवासियों को योजनाओं के प्रति अधिक चैतन्य बना कर जन सहयोग के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

3. कार्य परियोजनाओं (Work projects) —के लिए ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थानीय संगठनों की सहायता की जानी चाहिए जिससे सरकार और जनता के बीच सहयोग का विस्तार हो सके। यद्यपि पिछली तीन योजनाओ में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के द्वारा इन परियोजनाओ में जनसहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई किन्तु अभी भी इस क्षेत्र मे बहुत कुछ किया जाना बाकी है। विस्तृत जन सहयोग के बिना योजनाएँ जनसाधारण को प्रभावित नहीं कर पाएँगी।

(द) अन्य सुझाव—योजनाओं की कार्यविधि, वित्तीय साधनों एवं जनसहयोग के क्षेत्र में प्रयत्न करने के साथ साथ प्रभावशाली मूल्य नीति, आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए उचित कर प्रणाली, कुशल श्रमिकों की व्यवस्था, विदेशों से तकनीकी सहयोग, भौतिक साधनों का उचित उपयोग आदि कुछ उपाय हैं जिनसे योजनाओं के वांछित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।

श्री अशोक मेहता के अनुसार "योजना के प्रमुख उद्देश्यों तक पहुँचने के लिए संगठित तथा निश्चित प्रयत्न अनिवार्य हैं। इसके लिए व्यक्तियों के लिए प्रशिक्षण, सही मूल्यांकन, विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्तियों में दायित्व की भावना तथा अभिक्रमशीलता आवश्यक है।"

सारांश

भारत में आर्थिक नियोजन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही भारत में संगठित प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। 1950 में गठित भारतीय

योजना आयोग ने भारत की योजनाओं के निर्माण व संचालन में महत्वपूर्ण योग दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)—योजना का मुख्य उद्देश्य विभाजन तथा युद्ध जन्य असन्तुलन को दूर करना था। योजना पर 1960 करोड़ रुपये खर्च हुये यह योजना कृषि विकास की मुख्य योजना थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)—उद्देश्य—1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि, 2. औद्योगीकरण, 3. रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा 4. आर्थिक विषमताओं में कमी।

योजना पर 4,600 करोड़ रुपये खर्च किये गये। यह योजना औद्योगिक विकास के लिये महत्वपूर्ण थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—(1961-66)। उद्देश्य—1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि, 2. खाद्यान्नों में आत्म निर्भरता व कृषि उत्पादन में वृद्धि, 3. मूल उद्योगों का विकास, 4 रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा 5. आर्थिक विषमताओं को दूर करना।

योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में अनुमानित 7500 करोड़ रुपये की जगह लगभग 8628 करोड़ रुपये खर्च हुये। योजना में कृषि, उद्योग एवं यातायात के विकास पर अधिक बल दिया गया है।

भारत की वार्षिक योजनायें—

तृतीय पंचवर्षीय योजना के मध्य विभिन्न विषम परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप चतुर्थ योजना के स्थान पर भारत में वार्षिक योजनायें बनाई गईं।

वार्षिक योजना 1966-67—इस अवधि में 2221 करोड़ रु० व्यय करने का लक्ष्य था। विद्युत, कृषि उद्योग, यातायात, राष्ट्रीय आय आदि में भी विभिन्न लक्ष्य रखे गये।

वार्षिक योजना—1967-68—इसमें 2248 करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान था। जिसमें सबसे ज्यादा राशि संगठित उद्योगों पर

व्यय करने का अनुमान था। इससे अनुमानित प्राप्तियों व व्यय में 54 करोड़ रु० का अन्तर रहा था।

तीन पंचवर्षीय योजनाओं में भारत की आर्थिक प्रगति—भारत में तीन योजनाओं के मध्य आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त सफलता—

1. राष्ट्रीय आय—सन् 1950-51 से 1964-65 तक राष्ट्रीय आय 69 प्रतिशत ज्यादा हुई।

2. कृषि— कृषि उत्पादन में 65 प्रतिशत वृद्धि हुई। सभी प्रकार की सिंचाई योजनाओं से 4·54 करोड़ एकड़ भूमि पर अतिरिक्त सिंचाई होने लगी।

उद्योग शक्ति व यातायात—उद्योगों का उत्पादन 152 प्रतिशत ज्यादा हुआ। विद्युत शक्ति में चार गुना वृद्धि हुई। रेलों की भार वाहन क्षमता दुगुनी हो गई।

3. समाज सेवाएं—मनुष्य की औसत उम्र 32 वर्ष से बढ़कर 50 वर्ष हो गई। मलेरिया का निराकरण हो गया।

कमियां–(1) मूल्य स्तर में वृद्धि, (2) कर भार में वृद्धि, (3) बेरोजगारी में वृद्धि, (4) प्राथमिकताओं का देश की आवश्यकताओं के अनुकूल न होना, (5) सरकार की अस्पष्ट नीति, (6) समाजवादी समाज की संरचना का न होना, (7) लक्ष्यों की प्राप्ति का न होना, (8) निजी क्षेत्र की उपेक्षा की गई, (9) विकास व्यय का गलत अनुमान लगाया गया, (10) वित्तीय साधनों का उपलब्ध न होना, (11) विदेशी विनिमय का संकट, (12) प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव, (13) अकुशलता, (14) अनुचित प्रशासनिक व्यवस्था, (15) जनता के सहयोग का अभाव, (16) मूल्यांकन का अभाव, (17) दृढ़ निश्चय का अभाव।

योजनाओं की सफलता के लिए सुझाव—

(क) वित्तीय साधनों का विस्तार—